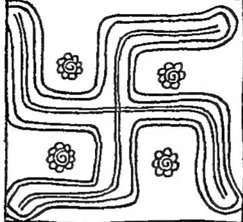
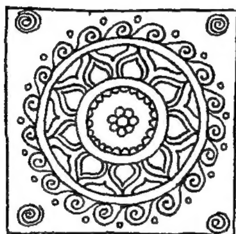
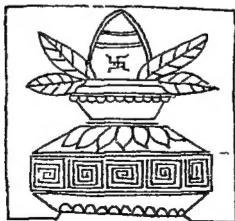
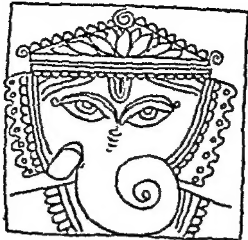
भारतीय संस्कृति
के
प्रतीक

शारदापीठ आनन्द भवन के सामने, इलाहाबाद-२११००२



भारतीय संस्कृति के प्रतीक

उदय नारायण सिंह



प्रकाशक
शब्दपीठ
आनन्द भवन के सामने
कर्नलगंज, इलाहाबाद–२११००२

□

मुद्रक
निमय प्रिंटिंग वर्क्स
७१८, दारागंज
इलाहाबाद–२११००६

□

□

आवरण व सज्जा
इम्पैक्ट, इलाहाबाद–२११००१

□

मूल्य पैंतीस रुपये
प्रथम संस्करण १९८५ ईसवी

अपनी पत्नी

श्रीमती राजरानी सिंह

को

समर्पित

जिनकी ईश्वर भक्ति

असीम थी

मा प्रगाम पथो वय
मा यनात न्द्र सोमिन ।
माऽन्त स्तु नों अरातय ॥

हे परमात्मन्! हम सन्मार्ग को त्याग कर न चलें।
ऐश्वर्ययुक्त होते हुए भी हम यज्ञ को छोड़ कर न चलें।
अदान भाव हमारे अन्दर न ठहरे।

ऋक् १० ५७ १

अपनी बात

पाश्चात्य सभ्यता के बढते हुए प्रभाव के कारण हम अपनी युगो पुरातन और परपरागत भारतीय सस्कृति, आचार-व्यवहार और सभ्यता को भूलते जा रहे है। हम अपने उन पुराने धार्मिक सस्कारो, विश्वासो और आस्थाओ को भी धीरे-धीरे विस्मृत करते जा रहे है, जिनका हमारे पूर्वज कठोरता के साथ पालन ही नही करते थे, वरन् उसके माध्यम से वे अपने लौकिक और पारलौकिक जीवन को भी सुखमय तथा मगलमय बनाने की कामना किया करते थे। आज के वैज्ञानिक युग मे भी पूजा-अर्चा, यज्ञ आदि का अपना विशिष्ट स्थान है और हमारे देश की न केवल आस्तिक और धर्मप्राण, वरन् बहुसख्य सामान्य जनता भी, चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, भाषा, आचार-व्यवहार, विचार की क्यो न हो, इसका किसी-न-किसी रूप मे आश्रय अवश्य लेती है।

धार्मिक और मागलिक अनुष्ठान तथा पूजा-अर्चा मे हम अपने उपास्य देवता के पुण्य-स्मरण के अलावा पूजा के विविध उपकरणो अथवा वस्तुओ का भी प्रयोग करते है, जिसमे नारियल, मगल-घट, पान, घटी, माला, दीपक, तिलक, यज्ञोपवीत, शख आदि सम्मिलित है। इनके अभाव मे चाहे हम कितने भी आधुनिक विचारो वाले प्रगतिशील क्यो न हो, हमारे जीवन के कोई भी धार्मिक अनुष्ठान सपूर्ण नही समझे जा सकते। प्रस्तुत पुस्तक मे भारतीय सस्कृति के चुने हुए पच्चीस प्रमुख प्रतीको के महत्व एवं उनकी विशेषताओ के बारे मे सक्षिप्त रूप मे प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। आशा है यह पुस्तक अपनी गौरवपूर्ण भारतीय सस्कृति, सभ्यता और आचार-व्यवहार को उच्च स्थान देने वाले लोगो के लिए रुचिकर एव ज्ञानवर्द्धक प्रतीत होगी।

रतसड, बलिया

—उदय नारायण सिंह

अनुक्रम

शिव	९
गणेश	१७
गुरु	२५
मगल-घट	३०
नारियल	३३
दीपक	३७
पान	४३
माला	४८
घटी	५४
शख	५९
यज्ञोपवीत	६२
तिलक	६५
चरण-स्पर्श	६८
यन्त्र	७२
शक्ति	७८
लक्ष्मी	८२
श्री	८७
ओ३म्	९०
स्वस्तिक	९४
परिक्रमा	१०१
त्रिशूल और डमरू	१०४
कमल	१०७
सूर्य	१११
वृक्ष	११५
रुद्राक्ष	१२४

शिव

विश्व मे सृष्टि, पालन और विनाश जीवन के तीन मूलभूत तत्व माने जाते हैं। इन तीनो अवस्थाओ के तीन देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश की परिकल्पना हमारे हिन्दू धर्म मे की गयी है। ब्रह्मा सृजन-शक्ति, विष्णु पालन-शक्ति और शिव विनाश-शक्ति के देवता है। लेकिन शिव को लोकमगल और कल्याणकारी शक्ति के रूप मे भी माना गया है। शिव को अत्यत सरल, मधुर, शातिप्रद रूप मे भी हमारे पौराणिक ग्रन्थो मे चित्रित किया गया है। धर्म-शास्त्रो ने उनकी महिमा का वर्णन सविस्तार किया है। 'शिव' शब्द का अर्थ 'आनन्द' है। शिव को 'शकर' भी कहते हैं। 'श', 'आनन्द' और 'कर' का तात्पर्य 'कर्ता' है अर्थात् जो 'आनन्द करने वाला' है वही 'शकर' है। शास्त्रकारो ने भगवान शिव को कल्याण का दिव्य स्वरूप माना है। कलाकारो ने शिव को कला की दिव्य मूर्ति और सगीतज्ञो ने 'नटराज' के रूप मे वदना की है। साहित्यकारो ने उन्हे कल्याण तत्व के रूप मे जीवन सगीत के मधुर स्रोत के रूप मे और अनहद स्वर के रूप मे माना है। प्रभातकालीन सौन्दर्य का स्वरूप भगवान शिव हैं, महा-प्रलय की अग्नि-ज्वालाओ मे भी शिव का आक्रान्त रूप है तथा महाकाल और मृत्यु के देवता भी शिव माने जाते है।

सृष्टि के आदिकाल के देवता शिव कहे जाते हैं। सृष्टि के आदिकाल मे जब सर्वत्र अन्धकार व्याप्त था, उस समय केवल एक निर्विकार शिव ही थे जैसा कि 'उपनिषद्' मे वर्णित है। '[illegible]' के अनुसार भी

शिव से ही ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादि देवताओ की उत्पत्ति हुई है। 'शिव-पुराण' एव 'वायु पुराण' भी इसकी पुष्टि करते हैं। हमारे पौराणिक ग्रन्थो मे शिव के जितने नाम है, उतने शायद ही किसी अन्य देवता के हो। इससे स्पष्ट है कि शिव भारतीय जनमानस के कितने लोकप्रिय देवता है। शिव की निराकार उपासना लिंगोपासना के रूप में उनके आदि देव होने का परिचय देती है। शिव के रूप की कल्पना लिंग या ज्योतिर्लिंग के रूप मे करके हमारे प्राचीन साधको ने सृष्टि क रहस्य का उद्घाटन किया। आदि काल मे जब पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि विश्वलोक का कोई अस्तित्व ही नही था, उस समय पहले तेजोमय पुरुष ज्योतिर्लिंग के रूप मे प्रकट हुआ। उस लिंग का आदि, मध्य व अन्त नही था अर्थात् वह अडाकार था। इसी से विश्व की उत्पत्ति हुई और आगे चल कर यह अखड पदार्थ अनेक खडो मे विभक्त हो गया। इस प्रकार एक-एक खड सूय, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी आदि मे परिणत हो गये।

शिव की अनुपम देन शिवम् है। शिवम् का अर्थ है कल्याण, सभी प्राणियो के हित की कामना। शक्ति के त्रिगुणात्मक होने के कारण, सृष्टि का नैसर्गिक वैशिष्ट्य है, वैषम्य। शिव उसमे समता लाकर, समरस से उसे ओत-प्रोत करते ह। शिव का शिवम् ही उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण है, जो विषम है, उसी का वह अनुपान करते है, जो अरुचि है, उसी का वह वरण करते ह, जो अरुचि है, उसी को वह धारण करते ह। अखिल शिव की विषमता का पान कर, सृष्टि को सद्भाव मे जीने योग्य वही बनाते है। विष को धारण और पचाने की शक्ति किसी अन्य देव मे नही, शिव ही योग-समाधि के कारण विषमता रूपी विष का पान करते है। शिव की कल्पना, भारतीय दशन की अत्यन्त मनोरम अभूत-पूर्व उपलब्धि है। शिव का शिवम् शक्ति से उत्प्रेरित, उसके सान्निध्य से स्फुलिंगवित्, सृष्टि का विकास करता है। यह सृजन-विकास शिव का

विलासमय आनन्द है। परमशिव का सृष्टि के साथ उन्मुख होना, ऊर्ध्व-मुख होना, उत्सुक होना ही, शक्ति का प्रसारण है।

भगवान शकर का शरीर रजतगिरि के समान गौर वर्ण का है, आकाश जितना उसका आकार है, लेकिन वे सदा भस्म से परिपूरित रहते हैं। भस्म मौलिक तत्व है, इसे नष्ट नहीं किया जा सकता। 'शिव पुराण' के अनुसार, वे भस्म से ही सृष्टि की रचना करते हैं। डमरु भी सृष्टि का प्रतीक है। उनका ताण्डव नृत्य ब्रह्माण्ड मे गति लाता है। उसका प्रभाव सृजनात्मक भी होता है और सहारात्मक भी। नर्तन के समय शिव के पदाघात से पृथ्वी हिलने लगती है और आकाश सकट म पड जाता है। समस्त जगत को प्रलय का अनुभव होने लगता है, लेकिन शिवशकर का यह कार्य केवल जगत के कल्याण हेतु होता है। शिव की जटाओं मे अमृत तत्व के प्रतीक चन्द्रमा शोभायमान ह। इसके अतिरिक्त धर्म प्रतीक पुण्यसलिला गगा का वहाँ निवास स्थान है। तीनों ज्योति—सूर्य, चन्द्र और अग्नि—उनके तीन नेत्र है। शिव का प्रथम नेत्र धरातल, द्वितीय आकाश और तृतीय ज्ञानाग्नि का सूचक है। इसी तृतीय नेत्र के खुलने स काम भस्म हो गया था। शिव जी का कण्ठ नीला है। कालातर मे जब देवताओं और दैत्यो न मिल कर समुद्र मथन किया तो विष पृथ्वी पर गिरा। यदि वह विष कुछ समय तक मुक्त रहने दिया जाता तो सृष्टि का विनाश हो गया होता। जब शिव ने इसे देखा तो उन्होंने उसे ग्रहण कर विश्व का राहत दी। इसीलिए भगवान शिव आशुतोष कहलाये।

शिव के तन पर वस्त्र नही, लेकिन वे त्रैलोक्याधिपति कहे गये है। भुजाओं मे सर्प, गले मे रुद्राक्ष की माला और निवास के लिए श्मशान भूमि। ऐसा उनका अमगल रूप है। परन्तु नाम मगलकारी है। यह विरोधाभास भी अद्भुत है। योगिराजविराज होते हुए भी शिव अर्द्ध नारी-श्वर ह। उमा उनकी सहधर्मिणी ह। उमा वह दिव्य ज्योति है, जिसकी आराधना प्रत्येक व्यक्ति करता है। उमा का एक और नाम है—शक्ति।

-शिव और शक्ति की सनातन युगल-लीला ने भारतीय कल्पना और कला को सदा उन्मेषित किया है। भारतीय कवियों, रचनाकारों और शिल्पियों ने शिव और शक्ति के युगल स्वरूप को नाना रूपों में बांधा और व्यक्त किया है। शिव यज्ञ है तो उमा वेदी है, शिव अग्नि है तो उमा स्वाहा, शिव पुरुष हैं तो उमा प्रकृति। पुरुष और प्रकृति का संयोग होने पर ही सृष्टि उत्पन्न होती है।

'रुद्र' शब्द की कल्पना शिव के प्रलयकारी, भयकारी, महाक्रोधी तथा संहारक गुणों को देख कर ही सम्भवतः की गयी है। वैदिक काल के देव, दानव, महर्षि, मनुष्य यह मानते थे कि प्रलय काल के अवसर पर जो अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अग्निदाह, तड़ित् प्रवाह, वज्रपातादि होते हैं वे सब रुद्र के ही प्रतिरूप हैं। परन्तु 'रुद्र' ऋग्वेदीय काल में जहाँ एक ओर विकृत रूप वाले, लाल वर्ण वाले, जटाधारी एवं महान तेजस्वी हैं, वहाँ दूसरी ओर इसी 'ऋग्वेद' में देवताओं के क्रोध शांत करने वाले, शत्रुओं से रक्षा करने वाले व सुख-धनादि के प्रदाता एवं पापहारी के साथ-साथ कोमल उदर, पीतवर्ण तथा सुन्दर नासिका वाले वज्रधारी बताये गये हैं। 'अथर्ववेद' में भी उनके सौम्य एवं उग्र दोनों रूपों की वन्दना की गयी है। यहाँ 'रुद्र' के रूप में वे कृष्णोदर एवं लाल पीठ वाले धनुर्धारी तथा नीले केश वाले एवं सहस्राक्ष हैं। यहीं पर वे सौम्य रूप में 'जलाष भेषज', व्याधिनाशक पशुओं के कल्याणकर्ता बताये गये हैं। 'यजुर्वेद' में 'क्रोधित-शिव' को शांत करने के लिए 'शतरुद्र' का स्वतंत्र विधान बताया गया है। ब्राह्मण काल में 'रुद्र' के प्रभाव एवं पद में और अधिक वृद्धि हुई एवं -शिव रूप 'रुद्र' कहीं पर एक और कहीं पर अनेक बताये गये हैं। 'यजुर्वेद' में 'रुद्र' को 'अनन्त' बताते हुए कहा गया है कि-उनकी संख्या नहीं है।

'अथर्ववेद' में ईशान, भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, और महादेव ये सात रुद्र बताये गये हैं और कई पुराणों में रुद्र-भव, शर्व, पशुपति, भीम, ईशान, उग्र और महादेव ये आठ रुद्र बताये गये हैं। 'महाभारत' में मृग-

व्याध, शर्व, निऋति, अजैकपात्, महिर्बुध्नय, पिनाकिन्, दहन्, ईशान कपालिन्, स्थाणु एवं भव ग्यारह रुद्र बताये गये है। 'स्कध पुराण' मे भूतेश, लील, रुद्र, वृषवाहन, त्र्यम्बक, महाकाल, भैरव, मृत्युजय, कामेश और योगेश का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, जो उनकी निराकार उपासना का द्योतक स्वरूप है। नवीं एव दशवी शताब्दी मे लिग-पूजा का प्रचलन जब अधिक हुआ, तब लिगायत सम्प्रदाय का निर्माण हो गया। आगे चल कर शिव-लिग की उपासना सपूण भारत मे तब से प्रचलित हो गयी। कालान्तर मे निराकार एव साकार उपासना के समन्वय के रूप मे 'मुखलिग' का प्रचलन भी प्रारम्भ हुआ और 'मथुरा कला' के अन्तर्गत यह प्रचुरता से देखने को मिलती है। ये 'मुखलिग' गिनती मे १, ३, ४, ५ होते है। पचमुख उनके पाँच प्रमुख अवतारों (सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान) के द्योतक है। इतना ही नही, ये पच मुख शिव के पचकृत्य-स्थिति, सृष्टि, प्रलय, अनुग्रह एव विग्रह को भी दूसरी ओर प्रदर्शित करते है।

अत्यत दयालु एव उदार होने, तथा सभी गुणो से विभूषित होने के कारण उनकी पूजा भी कश्मीर से कन्याकुमारी और पूर्व मे द्वारिका से अरुणाचल तक की जाती है। गरीबो की कुटियो से लेकर धनिको के महलो तक वे सर्वव्यापी है। कुषाणकालीन सोने के सिक्के मे एक ओर जहा कनिष्ठ का चित्र अकित है वहीं, दूसरी ओर नदी सहित भगवान शकर हाथ मे त्रिशूल लिए अकित किये गये है। शिव के दाहिनी ओर यूनानी अक्षरो मे शिव का नाम लिखा है। उत्कृष्ट स्थापत्य कला से युक्त एलोरा का कैलाश मदिर, भुवनेश्वर का लिगराज मदिर, खजुराहो का महादेव मदिर, उज्जैन का महाकाल मदिर, काशी का विश्वनाथ, सोमनाथ का मदिर, नासिक के समीप का त्र्यबकेश्वर मदिर, कालिजर मे शिव का नीलकठ मदिर, कोणाक मदिर जहाँ रावण ने शिवपूजा की थी, मदुराई का मीनाक्षी मदिर, चिदम्बरम् का नटराज मदिर, काँची के

अनेक शिवमंदिर, उदयपुर के निकट का लिंग मंदिर, कांगड़ा का वैद्यनाथ मंदिर, अमरनाथ का शिवमंदिर, कोटद्वार के निकट का मुक्तेश्वर मंदिर, गढ़मुक्तेश्वर, केदारनाथ का मंदिर, मद्रास का मल्लिकार्जुन मंदिर आदि देश के विभिन्न भागों में बिखरे हमारे शिव मंदिर इस बात को स्पष्ट करते हैं कि शिव कितने लोकप्रिय देवता हैं। इसके अलावा विदेशों में भी इंडोनेशिया, सुमात्रा, कम्बोडिया का भद्रेश्वर मंदिर, नेपाल में पशुपति नाथ, बाली, बैंकाक, स्याम, चंपा, जावा आदि अनेक स्थानों पर शिव मंदिर विद्यमान हैं।

प्राचीन काल से लेकर आज तक के कवियों ने शिव की गौरवगाथा का वर्णन किया है। महाकवि कालिदास ने अपनी सुप्रसिद्ध काव्य-कृति 'रघुवंश' में तथा गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' के प्रत्येक खंड के प्रारंभ में शिव की स्तुति की है। उन्होंने अपनी अन्य कृतियों में भी शिव का गुणगान किया है। गोस्वामी के आराध्य राम मानस में कहते हैं—

'शिवद्रोही मम दास कहावा,
सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा।'

× × ×

'शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास,
ते नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक महवास।'
(लंका कांड)

इतना ही नहीं, राम ने स्वयं शिव को अपना आराध्य स्वीकार किया है

'लिंग थापि विधिवत करि पूजा,
शिव समान प्रिय मोहि न दूजा।'

× × ×

'कोउ नहि शिव समान प्रिय मोरे,
अस प्रतीति त्यागहु जनि भोरे।'
(बाल काड)

× × ×

'इच्छित फल बिनु शिव अवराधे,
लहै न कोटि योग जप साधे।'
(बाल काड)

मुसलमान भक्त कवि रसखान भी शिव के गुणगान मे पीछे नही रहे

'वह देख धतूरे के पान चबात, औ गात से धुलि लगावत हैं।
चहुँ ओर जटा अटकी लटकैं, सुभसीस फनी फहरावत है।
'रसखान' जेई चितवै चित है, तिनके दुख दर्द भगावत है।
गजखाल कपाल की माल विसाल, सो गाल बजावत आवत है।

रीतिकालीन कवि 'पद्माकर' ने भी त्रिपुरारी की उदारता का वर्णन किया है

'देव नर किन्नर कितेक गुन गावत मे,
पावत न पार जग अनत गुन पूरे को।
कहै 'पद्माकर' सुगाल के बजावत ही,
काज करि देत जन-जाचक जरूरे को।
चद की घटान जुत पन्नग फटान जुत,
मुकुट विराजे जटा जूटन के जूरे को।
देखे त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ,
पैये फल चारि फूल एक दै धतूरे को।'

इस प्रकार भारतीय संस्कृति की आत्मा शिवमय है। भारतीय चिन्तन, दर्शन, कला, साहित्य और लोक परम्परा में शिव इस तरह घुल-मिल गये हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। समूचा भारत शिव की प्रतिमाओं से भरापूरा है। वैदिक युग से लेकर आज तक देश का समग्र भारतीय जीवन ही शिव ही शिव है। शिव के अभाव में हम भारतीय संस्कृति, कला, साहित्य तथा सौंदर्य की कल्पना नहीं कर सकते।



गणेश

भारतीय सस्कृति मे विघ्नहर्ता गणेश का विशिष्ट स्थान है। शुभ अथवा अशुभ दोनो ही कार्यों मे गणेश की पूजा की जाती है। गणेश के स्मरण मात्र से सिद्धि बतायी गयी है—'जेहि सुमिरत सिधि होइ, गणनायक करिवर वदन।' गणेश को दिशाओ का देवता मानते है जो सभी विघ्नों और दु खो के हर्ता माने गये ह। प्रत्येक जन शुभ कम 'श्री गणेशाय नम' कह कर प्रारम्भ करते है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी पुस्तक 'विनय पत्रिका' मे सर्वप्रथम गणेश की स्तुति की है —

'गाइये गणपति जगवदन।
शकर सुवन भवानी के नदन।'

एक अन्य स्थल पर पार्वती के विवाह के अवसर पर गोस्वामी जी ने गणपति की पूजा की सार्थकता बतायी है—

'मुनि अनुशासन गनपतिहि
पूजेउ सभु भवानि।
कोउ सुनु ससय कर जनि
सुर अनादि जिय जानि।'

गणेश की कल्पना हमने उनके गजशीश, निरावरण शरीर, एक भग्न दत, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कर मे कमल और वाहन के रूप मे मूषक के रूप मे की है। बुद्धि के देवता गणेश को महर्षि व्यास ने महाभारत

की रचना मे लेखन-कार्य के रूप म आमन्त्रित किया था। गणेश के एक हजार आठ नाम बताये गये है जो उनकी लोकप्रियता का द्योतक है। एक व्यक्ति का एक से अधिक नाम देना उसकी बहुमुखी शक्ति और स्वरूप का परिचय देता है।

हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे गणेश की उत्पत्ति के रूप मे अनेक कथाएँ प्रचलित ह। बताया जाता है कि एक बार ऋषि-मुनियो ने असुरो के अत्याचारो से त्रस्त होकर भगवान शकर से प्रार्थना की जिस पर उन्होंने विनायक के रूप मे श्री गणेश को प्रकट किया। उन्होंने अपन शरीर को कपित कर अनेक गणो की सृष्टि की जिसका अधिपति गणेश को बनाया। 'लिंग पुराण' और 'वाराह पुराण' म यही कथा वर्णित है। 'मत्स्य पुराण' के अनुसार पार्वती ने अपने उबटन से गणेश की मूर्ति बना कर उसे स्नान घर के द्वार पर स्थापित किया। स्नान घर के रास्ते मे अवरोध बने उस शिशु का शकर ने त्रिशूल से वध कर डाला। बाद मे दुख होने पर एक गण को दक्षिण दिशा मे सबसे पहले प्राणी दिखायी देन वाले प्राणी के मस्तक को उतार लाने को शिव ने कहा जिस पर एक हाथी का मस्तक लाया गया और इस तरह गणेश की रचना हुई। प्रारम्भ मे गणेश की परिकल्पना एक भयानक देवता के रूप मे की गयी। आर्यो ने गणेश को स्वीकार कर उन्हे विघ्नहर बनाया। बाद मे वे सबके प्रिय देवता बने। हजारो वर्षा तक गणेश कृषि उत्पादन के देवता थे और वह वृक्ष की छाया मे पत्थर की मूर्ति के रूप मे पूजे जाते रहे। बाद मे गणा के नायक अर्थात् गणपति बने।

ईसा की पाँचवी शताब्दी के बाद गणेश की लम्बी सूड की चर्चा है। 'हर्ष-चरित' मे भैरवाचाय के उल्लेख मे विनायक को बाधाओ एव विद्या मे सम्बन्धित माना है तथा उनके शरीर म हाथी का सिर माना है। 'वामन-पुराण' के अध्याय ५४ मे गणेश के जन्म के सम्बन्ध मे एक कथा का वणन है। 'महावीर चरित' मे हेरम्ब की सूड का उल्लेख है। मत्स्य

'पुराण' के अध्याय २६०/५२-५५ मे गणेश की मूर्ति निर्माण की विधि बतलाई गयी है। 'मत्स्य पुराण' मे गणेश को चूहे की सवारी करते बतलाया है। 'भविष्य पुराण', 'कृत्य रत्नाकर' एव 'अग्नि पुराण' के १७वें तथा ३१३वें अध्यायो म गणेश का विधिवत् वणन है। सातवी शताब्दी के भास्कर वर्मा के अभिलेख मे गणेश का नाम आता है। 'शिवपुराण', 'ब्रह्म वैवर्तपुराण', 'स्कदपुराण', 'लिंग पुराण' आदि मे भी गणेश की कथा अच्छे ढग मे वर्णित है।

भारतीय इतिहास में भी अत्यन्त प्राचीन काल से गणेश का उल्लेख मिलता है। लोकदेवता के रूप मे उनकी मूर्तियाँ भारत के प्राय सभी भागो मे मिलती है। मथुरा सग्रहालय मे सग्रहीत एक कुषाणकालीन शिलापट पर गजमस्तक युक्त आकृतियो वाले गजानन यक्षो का अलकरण दर्शनीय है। सभवत यक्ष के विशाल लम्बोदर की परम्परा आगे चल कर गणेश प्रतिमाओ मे अपनाई गयी। शुग काल मे गणेश पूजा का उल्लेख मिलता है लेकिन गणेश की विधिवत पूजा की परम्परा विशेष रूप मे गुप्त काल से देखने को मिलती ह। मध्य प्रदेश स्थित भूमरा और उदयगिरि की प्रतिमाए तथा मथुरा सग्रहालय मे सग्रहीत मृत्त गणपति की एक प्रतिमा पूर्व गुप्त की अनूठी निधि है। उत्तर गुप्त काल मे गणेश की प्रतिमाएँ अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर हैं। कुछ प्रतिमाएँ इलाहाबाद और ग्वालियर सग्रहालय मे भी है जो उत्कृष्ट है। इस काल से गणेश द्विभुज, चतुर्भुज रूप के साथ नृत्त गणपति के रूप मे प्रचलित हो गये थे। गणेश के साथ उनकी शक्ति विघ्नेश्वरी के प्रदशन की परम्परा भी उत्तर गुप्त काल से प्रचलित हो गयी। गुप्त काल के पश्चात् पूर्व मध्य काल और उत्तर मध्य काल तक तो गणेश की महत्ता इतनी अधिक बढ गयी कि उनके नाम पर गणपत्य सम्प्रदाय तक चल गया और लक्ष्मी के विविध स्वरूपो के समान गणेश के भिन्न स्वरूपो की कल्पना के आधार पर प्रतिमाएँ बनी यथा-बाल गणपति, बीज गणपति, हेरम्ब गणपति, शक्ति गणेश, लक्ष्मी गणेश, तरुण गणपति आदि। इन

स्वरूपो मे गणेश चतुर्भुज, अष्टभुज, दशभुज, द्वादशभुज, षोड्श भुज, बीस भुज के रूप मे दिखायी देते है।

पाँचवी तथा छठवी शताब्दी के पश्चात् गणेश अथवा गणपति की पूजा और आरती सामान्य रूप से प्रारम्भ हुई और पुराणो मे वर्णित ध्यान के आधार पर प्रतिमा खोदी जाने लगी। नवी सदी मे पटियाला जोधपुर म चारो दिशाओ मे गणेश की चार मूर्तियाँ खुदी है। उसी पर अकित लेख से विदित होता है कि कक्कुक नामक व्यक्ति ने अपने व्यवसाय की उन्नति एव सफलता के लिए गणेश की प्रतिमा एव लेख खुदवाया था। भारतीय कला मे गणेश प्रतिमाएँ तीन प्रकार की मिलती ह—(१) बैठी प्रतिमा, (२) स्थानक प्रतिमा, (३) नृत्त गणपति। इनमे बैठी प्रतिमा मे दो भुजाएँ है। भूमरा के शिव मन्दिर मे आसन अवस्था मे गणेश मूर्ति मिलती है। मथुरा से लाल पत्थर की मूर्ति तथा मितरगाँव से मिट्टी के ठीकरे पर गणेश प्रतिमा प्राप्त हुई है। खजुराहो से चतुर्भुजी बैठी हुई प्रतिमा उपलब्ध हुई है। उदयगिरि गुहा की दीवाल पर गणेश मूर्ति खुदी है जिनके दो हाथ ह जो अर्द्ध पयक आसन मे है और मोदक भाण्ड हाथ मे दिखलाई पडता है। खजुराहो मे गणेश की मूर्ति पार्वती की गोद मे बैठी है। उडीसा के मयूरभज मे प्राप्त एक मूर्ति के हाथो मे माला और एक मोदक पात्र है। चौथा आयुध स्पष्ट नही है। मूर्ति त्रिनेत्र और चतुर्भुजी है। गले मे सप का जनेऊ है। हाथो मे रुद्राक्ष माला, परसु तथा मोदक है। किरीट मुकुट आभूषण तथा चूहा है। खजुराहो मे भी ऐसी ही एक मूर्ति है। नृत्त गणपति प्रतिमाओ के अन्तगत उडीसा के मयूरभज म प्राप्त मूर्ति है जिसमे नृत्य करते हुए गणेश के आठ हाथ दिखाये गये ह। खजुराहो मे चार, आठ और सोलह हाथो वाली कई गणेश मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है। मैसूर एव बगाल से भी ऐसी कई मूर्तिया मिली ह। भारत कला भवन मे गणेश की पाँच मुखी मूर्ति भी है जिसमे एक मस्तक से पाँच सूड सम्बन्धित है। केरल से गणेश की सोलह भुजा

की एक धातु प्रतिमा प्राप्त हुई है। दक्षिण भारत में हेरम्ब गणपति की मूर्तियाँ मिली हैं। बीस भुजा वाली गणेश की एक सर्वश्रेष्ठ मूर्ति बाणा-सुर की राजधानी बानपुर (ललितपुर उ० प्र० जनपद) में मिली है जिनकी भुजाओं में विविध प्रकार के आयुध व अन्य सुन्दर वस्तुएँ शोभायमान हैं। यथा—अमृतघट, अंकुश, वज्र, त्रिशूल, कमंडल, नाग, कमल, मोदक पात्र, खड्ग, कुठार आदि। देश के कोने-कोने में स्थित दुर्गों, प्राचीन देवालयों, पीठों आदि के द्वारों पर ललाट-बिम्ब के रूप में गणेश की मूर्ति है। दक्षिण भारत के शिव और विष्णु मन्दिरों में तो गणेश की मूर्ति रहती ही है। त्रिचनापल्ली के पहाड़ी शिखर पर 'उच्ची पिल्लेयर' का गणेश मन्दिर उच्च कोटि का है। गणेश मूर्तियों में सूंड बायीं ओर मुड़ी रहती है, परन्तु दक्षिण भारत के कारू पायुर में 'सिंहपुरीश्वर' मंदिर में दाहिनी ओर सूंडवाली मूर्ति है। वे 'वाचमचुसी पिल्लेयर' कहलाते हैं। भारत में गणेशोपासना विभिन्न नामों से होती है। उनके विभिन्न गुणों के आधार पर उन्हें विभिन्न नाम दिये गये हैं। गणेश, वक्र-तुण्ड, गणपति, एकदंत, लम्बोदर, गजानन, ज्येष्ठराज, शूर्पकर्ण, मूषक-वाहन, विनायक, विघ्नेश्वर आदि नामों से उनकी उपासना पुराने काल से सारे भारत में होती है।

गणेश भारत तक ही सीमित नहीं रहे। भारत की सीमाएँ लांघ कर उनकी महिमा तुर्किस्तान, चीन, तिब्बत, बर्मा, थाइलैंड, कम्बूजिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, जापान, अमरीका आदि तक पहुँची। तुर्किस्तान में वाझालिक की गुफा के मंदिर की दीवारों पर पालथी मार कर बैठे गणपति का चित्र है। चीनी तुर्किस्तान में गणपति की चार भुजाएँ हैं। चीन में गणपति को गजराज माना जाता है। तिब्बत के मंदिरों और बौद्ध विहारों के प्रवेश द्वारों पर गणेश की मूर्ति है। कहा जाता है कि भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को 'गणपति हृदय' नामक मंत्र जपवाया था। बौद्ध सम्प्रदाय में महायानों में, मूर्ति पूजा प्रचलित होने पर त्रिनेत्रिक

के रूप मे गणेश पूजन होने लगा। बर्मा और स्याम मे कास्य धातु की गणेश मूर्तियो का पूजन श्रेष्ठ माना जाता है। जापान के कई मदिरो मे चारा दिशाओ के द्वारो पर गणपति है। पश्चिम दिशा के गणपति को 'वज्रवासी' कहते ह। उनके हाथ मे धनुप-वाण है। पूर्व दिशा के गणपति को 'वर्ज्यचिह्न' कहते ह। उनके हाथ मे छोटा छत्र है। दक्षिण दिशा मे गणपति 'वज्र भक्षक' ह। हाथ मे पुष्पमाला है। उत्तर दिशा मे गणपति 'वज्रमुख विनायक' ह। उनके हाथ म तलवार है। जापान मे गणपति 'काटीगन' के नाम से प्रसिद्ध है।

जमनी मे गणेश को राष्ट्रीय चिह्न के रूप मे मान कर गणेश क प्रति श्रद्धा-भावना व्यक्त की गई हे। ब्राजील मे पुरातत्व विभाग द्वारा खुदाई करने पर गणेश की मूर्ति निकली थी। विशेषज्ञो का कहना है मूर्ति चार-पाच हजार वर्ष पुरानी प्रतीत होती है। रूस म वाकू के कैस्पियन सागर म जहा भूमिगत गैसो का एक समय म अग्नि मदिर बना कर पूजा जाता था, मदिर की दीवार पर गणेश की सगमरमर की मूर्ति है। चीन मे ५३१ ई० के शियेनर के चट्टान काट कर बनाये मदिर मे गणेश की मूर्ति हे। इरान मे गणेश की अत्यन्त प्राचीन प्रतिमा मिली है। यहाँ पश्चिमी ईरान म लूरिस्तान की खुदाई मे प्लेट पर गजमुखी गणपति की प्रतिमा उत्कीण मिली है। इस पुरातत्ववेत्ताओ ने १२०० से १००० ई० पूर्व का माना है।

विश्व के अन्य भागो मे गणेश प्राय शिव के प्रतीका के साथ मिलते ह। नेपाल मे नाग, तिब्बत व मगोलिया मे त्रिशूल, जावा मे कपालमाला आदि गणेश की मूर्तियो के साथ मिलते ह। ये सभी शिव के प्रतीक हैं। नटराज के प्रतीक रूप मे नृत्त गणपति भी ह। गणश की कुछ मूर्तियो म वाहन चूहा है तो अनक मे सिंह है। म्यूनिख के वान्कर कून्डे म्यूजियम की गणेश कास्य प्रतिमा के एक पेर के नीचे चूहा व एक पर के नीच सिह है। एक पाश्चात्य महिला श्रीमती ए० गट्टी न गणेश पर एक बडी

सुन्दर तथा रोचक पुस्तक लिखी है, जो सन् १६३६ मे आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से प्रकाशित हुई थी। भारतीय दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ है, फिर भी यह पुस्तक पठनीय है। श्रीमती गेट्टी ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि जापान मे गणेश का नाम कागनेन, चीन मे कुआत-शी-तियेन, मगोलियन भाषा मे त्वोन खारुन, कबोडियन भाषा मे प्राइकेनीज, बर्मी मे महापियेन्ने पाया जाता है। इसी नाम से उक्त देशो मे उनकी पूजा होती है।

अफगानिस्तान मे गणेश की गुप्त काल की अनेक प्रतिमाएँ मिली ह। गारदेज मे कुछ वप पूर्व प्राप्त गणेश की एक प्रतिमा अब काबुल मे दरगाह पीरस्तन नाम से पामीर के पास हिन्दुओ द्वारा पूजी जाती ह। वह प्रतिमा इडो-अफगान शेली का विशिष्ट नमूना है। ६० सेंटीमीटर ऊँची व ३५ सेंटीमीटर चौडी इस प्रतिमा के आधार पर लिखा है कि यह प्रतिमा प्रख्यात शाही राजा खिगल जो अपने आठवें राज्य वर्ष मे परम भट्टारक, महाराजाधिराज थे, ने प्रतिष्ठापित करवाई है। ओरेलस्टीन बहुत प्राचीन राजा था। सभवत खिग या खिंगी नाम वाले सिक्के उसी के होग। यह प्रतिमा ५वी शताब्दी की है। इसकी सूंड के चार हाथ तोड दिये गये ह। इस गणेश मूर्ति के यज्ञोपवीत रूप मे सप है वह पेट मोदक (लड्डुओं) से भरा है, उस कहानी के अनुसार जब चन्द्रमा उन्ह देख कर हँसा था। अफगानिस्तान मे काबुल से दस मील दूर सकर धारा मे गुप्तकाल की एक गणेश प्रतिमा मिली है।

मुसलमाना ने चाद-तारे को अपनी सस्कृति का प्रमुख चिह्न माना है किन्तु गणेश को मस्तक पर चन्द्रमा धारण करने वाला अर्थात भाल-चन्द्र मे कहते है। इसी पर से गाणपत्य सम्प्रदाय चला था। अनुमान लगाया जाता है कि मुसलमानो ने पहले कभी गाणपत्य सम्प्रदाय को माना होगा। चीन और जापान मे गणेश की मूर्ति को 'फो' के नाम से सम्बोधित करते है। कोलो दोइशी नामक विद्वान् ने ग्रहा-विनायक पूजन

आरभ करवाया था । यूनान मे ओरेवस नाम से गणेश का पूजन किया जाता है । जावा मे शिव के मदिर मे गणेश की प्रतिमाएँ स्थापित है । तिब्बत मे प्रत्येक मठ मे गणेश पूजा की प्रथा है । वोर्नियो और बाली द्वीप मे गणेश पूजा प्रचलित है । नेपाल मे विनायक और हेरम्ब नाम से गणेश पूजन होता है ।

गणेश के पूजन का विधान भी हमारे शास्त्रकारो ने वताया है । इसमे इक्कीस दूर्वा (दूब) ले कर दो-दो दूर्वा क्रमश निम्नलिखित दस मन्त्रो का उच्चारण करते हुए गणेश जी पर चढाया जाना चाहिए । (१) गणाधिपाय नम (२) उमापुत्राय नम (३) अघनाशनाय नम (४) विनायकाय नम (५) ईशपुत्राय नम (६) सर्वसिद्धिप्रदाय नम (७) एक दन्ताय नम (८) ईभवक्त्राय नम (९) मूषक वाहनाय नम (१०) कुमार गुरवे नम । शेष इक्कीसवी दूर्वा उनके दाँत को समर्पित कर देना चाहिए ।

इस तरह हम देखते है,, कि गणेश पूजन का विश्वव्यापी प्रचलन हो गया है और आजकल तो गणपति की उपासना का प्रचलन अपेक्षाकृत कुछ अधिक ही है । लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने गणेश पूजन के नाय को भारतीय स्वाधीनता सग्राम से सबद्ध किया था । सर्वमगल, श्री समृद्धि तथा बुद्धि विवेक के देवता के रूप मे गणेश भारतीय जन-मानस मे इतने घुल-मिल गये है कि उनकी आराधना हम अपने वर्तमान और भविष्य को सुखमय और सब प्रकार से सम्पन्न करने के लिए सर्वदा करते रहेंगे ।

□□□

गुरु

हमारे देश मे अत्यत प्राचीन काल से ही गुर को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। गुरु की परपरागत सकल्पना भारतीय सस्कृति की एक अनुपम तथा अलौकिक मणि है। यह हमारी सर्वाधिक मूल्यवान सपत्ति है, क्योकि यह संकल्पना ही इस महान राष्ट्र की भव्य आध्यात्मिक परम्पराओ के कुछ सर्वाधिक मूल्यवान रूपो को सुरक्षित बनाये रखने तथा उन्ह अविच्छिन्न स्थायित्व प्रदान करने के लिए उत्तरदायी ह। 'गु' शब्द का अर्थ अधकार 'और 'रु' का अर्थ 'प्रकाश' अथवा 'तेज'। अज्ञान को खत्म करने वाला ही गुरु है। इसका प्रथम वण 'गु' 'माया' का और द्वितीय वण 'रु' 'ब्रह्म' का द्योतक है जो माया की भ्रान्ति का विनाश करने वाला है। इस गुरु-परपरा की प्रथा ने ही औपनिषद युग के ऋषियो के जीवत अनुभवो को आने वाली शताब्दियो मे पीढी-दर-पीढी सावधानीपूर्वक सुरक्षित बनाय रखा तथा उन्ह परवर्ती युगो तक पहुँचाया। उसने यह पवित्र काय हमारे राष्ट्र मे अनेक उग्र प्रत्यावर्तनो के बावजूद सपादन किया है। गुर म ही समस्त देवताओ का हमन निवास माना है। यथा—

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु
गुरुर्देवो महेश्वर
गुरुरेव परमब्रह्म
तस्मै श्रीगुरवे नम'

कबीर ने तो गुरु के पद को 'गोविन्द' के पद से भी ऊपर माना है क्योंकि 'गोविन्द' का ज्ञान गुरु की कृपा के बिना प्राप्त होना सभव नही है।

'गुरु गोविन्द दोऊ खडे
काके लागू पाँय
बलिहारी गुरु आपकी
गोविन्द दियो बताय।'

केवल कबीर ही नहीं, उनके काल के सभी सत कवियो ने गुरु की यह महिमा स्वीकार की है। कृष्ण के प्रेम मे बावरी मीरा ने भी अपनी 'अमूल्य निधि' की खोज का श्रेय गुरु को ही दिया है। यदि गुरु की कृपा न होती तो उनको 'रामरतनधन' की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती थी?

"बसतु अमोलक दी मेरे सत—
गुरु कर किरपा अपणाओ
सत की नाव खेवटियाँ सत—
गुरु भवसागर तरि आयो
मीरा के प्रभु गिरधर नागर
हरिख-हरिख जस गायो
मैंने रामरतनधन पायो।"

अन्य देशा मे भी गुरु को अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। सिकन्दर अपने गुरु का अधिक सम्मान करता था। चीन मे भी ईसा से चार सौ वर्ष से भी पहले से गुरु को उच्च पद प्राप्त होता रहा है। चीन के महान् दार्शनिक कनफ्यूशियस के हृदय मे भी गुरु का उच्च स्थान था और उन्होंने कई अवसरो पर गुरु की महिमा का वर्णन किया

है। उन्होंने गुरु के लिए चार चीजों को होना आवश्यक बताया है यथा—'उसे पहले से धारणा नही बना लेनी चाहिए, एकपक्षीय निर्णय नही करना चाहिए, भाव से दूर रहना चाहिए तथा अहभाव भी नही करना चाहिए।'

लेकिन जितना महत्व हमारे देश मे गुरु का है उतना किसी अन्य देश मे नहीं। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरित मानस' मे यहाँ तक कहा है कि गुरु के चरणों की धूलि सिर पर धारण करने से ससार के सम्पूण वैभव प्राप्त हो जाते है—

"जे गुरुचरण रेनु सिर धरही,
ते जन सकल विभव बस करही।"

और

"श्री गुरु चरण सरोज रज
निज मन मुकुर सुधार ।"

अर्थात् व्यक्ति का मन ही दपण है और बुद्धि ही नेत्र या दृष्टि है किन्तु अपने नेत्र से हम बाह्य जगत को तो देख सकते है किन्तु स्वय को नही देख सकते। उसके लिए दपण अपेक्षित है। किन्तु नेत्र के किसी रोग से ग्रस्त हो जाने पर दृष्टि भी स्पष्ट नही रहती और अगर दर्पण भी स्वच्छ न हो तो उसम भी सही प्रतिबिम्ब नही दिखाई देगा। अत अपने को देखने के लिए—आत्म-निरीक्षण के लिए स्वच्छ दृष्टि व स्वच्छ मन होना चाहिए और दृष्टि व मन की स्वच्छता गुरु कृपा से ही सम्भव है।

गुरु कृपा से दृष्टि और मन के स्वच्छ हो जाने पर मनुष्य मे किसी कार्य के करने पर उसके प्रति कर्तृत्व का अहकार नही रहता और वह अपने सब कार्यों मे भगवान का ही कतव्य समझ कर अपने को बस

निमित्त मात्र मानने लगता है। इसलिए गुरु को सदा सन्तुष्ट रखना चाहिए और उसके कोप से बचना चाहिए। यदि गुरु क्रुद्ध हो गया तो फिर उस क्रोध से कोई निस्तार नहीं है।

"राखइ गुरु जौ कोप विधाता।
गुर विरोध नहि कोउ जग त्राता।"

गुरु हमको विद्या देता है, हमारा अज्ञान दूर कर हमको प्रकाश देता है। यह विद्या ही है जो हमें अन्य पशुओं से अलग करती है, और जीने की एक नई राह प्रदान करती है।

गुरु की आराधना वास्तव में परब्रह्म की उपासना है। इस मर्त्यलोक में गुरु सब कुछ है। गुरु की पूजा-अर्चना वस्तुतः साक्षात् परम सत्ता की की पूजा-अर्चना है। गुरु एक दिव्य-पुष्प है जो संसार में अपना सौरभ बिखेरता है। वह परमात्मा का स्थायी साक्षी और प्रभु का प्रतिरूप है और उसकी उपासना से व्यक्ति आत्मा को प्राप्त करता है।

गीता का सम्पूर्ण ज्ञान 'मैं' कौन में सन्निहित है। योगीराज श्रीकृष्ण उस श्रेणी के अलौकिक गुरु थे जिन्होंने शिष्य अर्जुन को 'मैं' रूप में सर्वशक्तिमान परमात्मा सम्पूर्ण जगत में जिस तरह स्थित है, अत्यन्त सरल समीक्षा द्वारा तत्वों में दिग्दर्शन कराया है। जिसने इस 'मैं' को जान लिया उसका ही अज्ञान दूर हुआ। उसके लिए न तो अनेक ईश्वर, न धर्म, न वर्ण और न ही सम्प्रदाय। वह आज अविनाशी अमर सर्वशक्तिमान परमात्मा सम्पूर्ण जगत में जिस तरह अपनी योग माया से स्थित है और जिस प्रकार सम्पूर्ण संसार का संचालन करता है क्रिया रहित होकर यह श्रेष्ठ ज्ञान ही उचित है—'मैं अविनाशी परमात्मा सम्पूर्ण भूतों में आत्मा के रूप में अव्यक्त रूप में स्थित हूँ और यह वह मात्र मुझ परमात्मा में ही स्थित है, सभी जड़ चेतन और प्राणियों का एक ही धर्म

एक ही ईश पर होकर एक ही सर्वथा पूजित है—समार मुझ एक मे समाहित है—मैं ससार मे नही।'

इसलिए 'मै' को जान कर इसम रमना ही श्रेयस्कर होगा। यह सच्चे सतगुरु की कृपा के बिना असभव है। जिन्हे ऐसे गुरु उपलब्ध हुए, उनकी आत्मा ही परम प्रकाश पुज मे विलीन हुई और वे भगवान के रूप मे ससार मे पूजित हो रहे है। इस तरह गुरु वही है जो हमारे अन्तर-चक्षुओं को खोल कर आत्मा का परमात्मा से मिलन कराये।



मगल-घट

मगल-घट अथवा कलश के बिना हम भारतीय सामाजिक जीवन की कल्पना नही कर सकते। भारत म निवास करने वाली सभी जातियो—गरीब अथवा अमीर—मे मगल घट, कलश अथवा घडे को समान रूप से महत्व प्राप्त है। प्रत्येक मागलिक अवसरो पर शुद्ध जल से भरे घडे को सजाकर रखने का विधान अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। घडे का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव सभ्यता का। हडप्पा-मोहनजोदडो काल से लेकर गुजरात के लोथल, कौशाम्बी, अहिच्छत्र, मथुरा तथा अन्य प्राचीन स्थानो पर हुई खुदाइयो मे मिट्टी के जो सुन्दर बतन मिले है उनमे मटके तथा लम्बे सकरे मुँह वाले पात्र मिले है। जल को शीतल रखने के लिए अनेक वैज्ञानिक अनुसधानो तथा उपकरणो की खोज के बावजूद घडे सभी के घरो मे पाये जाते हैं। वैज्ञानिको का ऐसा मत है कि घडे मे रखा गया जल कई दिना तक कीटाणु-रहित रहता है जबकि धातुओ के बतन मे शीघ्र कीडे पड जाते है।

मगल-घट को अमृत घट भी कहा जाता है। समुद्र मथन के समय जो अनमोल रत्न प्राप्त हुए थे उनम अमृत-घट का विशिष्ट स्थान रहा। पूर्ण कुभ, मगल-घट, कलश, घट ये सभी सुख-समृद्धि, सौभाग्य, सफलता, आनन्द, शान्ति और पूर्णता के द्योतक माने गये है। यही कारण है कि इसे दरवाजे के मुख्य द्वार पर रखने का विधान है। इसका उल्लेख स्कन्द-पुराण और मत्स्य-पुराण मे किया गया है। घट की स्थापना प्रत्येक

मांगलिक कार्यों के अवसर पर विधिवत मन्त्रोच्चार के साथ की जाती है। कलश रखा जाता है और उस पर स्वास्तिक चिह्न बनाया जाता है। उसे गंगा जल अथवा शुद्ध जल से भरा जाता है और मुख पर आम, बरगद, पीपल, कटहल अथवा मौलसरी नामक पाँच वृक्षों में से किसी एक की कोमल पत्तियों वाली टहनी को रखकर उस पर नारियल रखा जाता है। मंगल घट की गणना अष्ट मांगलिकों में की गयी है अतः प्रत्येक सम्प्रदाय में इसकी प्रतिष्ठा है और प्रत्येक मंगल कार्यों के अवसर पर इस घट की स्थापना के बाद ही सकल विघ्नहर्ता गणेश अथवा गणपति की स्थापना कर उनकी पूजा की जाती है। घट को समाज में इतना महत्व दिया गया है कि इसकी पूजा देवी-देवताओं से भी पूर्व की जाती है।

मंगल घट त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु और महेश का प्रतीक माना जाता है। यही कारण है कि इन त्रिदेवों के प्रतीक के रूप में हर मांगलिक कार्यों पर मंगल घट की स्थापना की जाती है। पौराणिक ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि मंगल-घट के मुख पर ब्रह्मा, ग्रीवा में शंकर, मध्य में मातृगण और मूल में विष्णु की स्थिति है। ऋग्वेद में पूर्ण कलश का उल्लेख अनेक अवसरों पर आया है। उसका सम्बन्ध इन्द्र से बताया गया है। उसमें सोम पूरित कुंभ का भी उल्लेख है। उसमें स्वर्ण-कलश मधुपूरित कलश तथा घृतपूरित कुंभ का भी वर्णन है। इसे सृष्टि का अखंड स्वरूप और सत्व को धारण करने वाला भी बताया गया है। पूर्ण-घट अथवा मंगल कलश का दिग्दर्शक हमें सांची, भरहुत, मथुरा, कपिशा, अमरावती आदि में उपलब्ध है जिस पर पद्मगुच्छ भी अंकित हैं। कहीं-कहीं पर मंगल कलश में प्रस्फुटित पद्म पर लक्ष्मी विराजमान हैं। कलश जल अर्थात् जीवन से भरा पूरा माना गया है और जल से ही पद्म और लक्ष्मी का उद्भव है। इस तरह मंगल कलश आध्यात्मिक और भौतिक दोनों तत्वों का समन्वयात्मक स्वरूप उपस्थित करता है।

जयपुर के भूतपूर्व राजघराने के निजी संग्रहालय 'सिटी पैलेस' में

चादी के दो विशालघट रखे हैं जो विश्व के सबसे बडे चाँदी-पात्र के रूप में सग्रहालय की शोभा बढा रहे है। सन् १८८८ के लगभग निर्मित चादी के इन विशाल कलशो मे जयपुर के धमपरायण महाराज माधो सिंह के दैनिक उपयोग के लिए गंगा जल भर कर रखा जाता था। इनमे से प्रत्येक का वजन ३०८ किलोग्राम है और ऊचाई १६० सेंटीमीटर तथा परिधि २४८ सेंटीमीटर है। इन आकर्षक चांदी के पात्रो को बनाने म ८ महीने का समय लगा था और निर्माण विक्रम सवत् १६५३ की चैत्र सुदी तीज के शुभ दिन को प्रारम्भ किया गया तथा विक्रमी सवत १६५५ (सन् १८८८ ईसवी) मे पौस सुदी दूज को बनकर ये तैयार हुए। इसमे उस समय कुल ६० हजार रुपये व्यय हुए थे।

इस प्रकार भारतीय सस्कृति, समाज और दैनिक मगल कार्यों और प्रत्यक शुभ अनुष्ठानो मे मगल कलश हमारी आतरिक सवेदनाओ का प्रतीक है। कबीर ने मानव शरीर को 'घट' बताया है और कहा है कि जिस प्रकार प्रत्येक घट मे सूय का प्रकाश प्रतिबिम्बित है उसी प्रकार समस्त प्राणि मात्र मे परमपिता परमात्मा का निवास है। जिस प्रकार खाली घडे का कोई महत्व नही उसी प्रकार जीवन की सार्थकता तभी सम्भव है जबकि वह आतरिक दृष्टि से पूण हो। कबीर न कहा भी ह, 'अपने घट दियना बारु रे।' पूण घट इसी आतरिक पूणता को प्राप्त करने की हमे प्रेरणा देता है ताकि हम भी अपने जीवन को मगलमय, आनन्दमय और सुख-सम्पन्न बना सकें।



नारियल

भारतीय सामाजिक जीवन में नारियल अपना एक पृथक महत्व रखता है। यह फल जीवन पर्यन्त मनुष्य का साथी है। बच्चा के जन्म से लेकर विवाह तक तथा विशिष्ट व्यक्तियों के सम्मान एवं विदाई आदि सभी मांगलिक अवसरों पर नारियल भेंट करने की परम्परा सम्पूर्ण भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है। दशहरा, देवों की प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा, यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों के अवसरों पर तथा मन्दिरों में नारियल चढ़ाने का बहुत महत्व है। इस प्रकार नारियल हमारे जीवन में एक विशेष महत्व रखता है। धार्मिक और सांस्कृतिक क्रियाकलापों में अर्पित की जाने वाली भेंट हमारे भावनाओं का प्रतीक है। नारियल के रूप में हम अपनी कठोरता के आवरण से छिपा हुआ कोमल-मधुर अन्तः-करण ही अपने देवता और इष्ट को भेंट करते हैं। नारियल के प्रतीक का गूढ़ संकेत भी है। यह हमारी आत्मा की मुक्ति का बोध कराता है। उपनिषदकारों का कहना है, आत्मा की मुक्ति के लिए मन और चित्त का नाश होना अनिवार्य है। यह मन और चित्त [illegible] मुक्ति सम्भव है।

नारिकेल, अग्रेजी मे कोकोनट और लेटिन मे कोकस कहा जाता है। इसका फल छह से दस इच तक लम्बा होता है। इसका बाह्य कठोर आवरण हरा या पीला-सा, भूरा-कत्थई होता है। इसके अन्दर का खाने योग्य श्वेत अश गरी या खोपरा कहलाता है। पूर्ण गोल सूखा खोपरा, जो कवच हटाने के बाद प्राप्त होता है, गरी का गोला कहलाता है। तन्तुमय रेशे और कठोर कवच सहित पूर्ण फल को नारियल के नाम से जाना जाता है।

इसका फल आरम्भावस्था मे केवल मधुर जल के रूप मे रहता है। इसे जल 'डाभ' या 'दाभ कहते हैं। मध्यावस्था मे इस जल का कुछ भाग मृदु गरी के रूप मे परिवर्तित हो जाता है और पकने पर यही गरी कठोर बन जाती है और जल सूख जाता है। कच्चे नारियल के पानी मे माता के दूध के समान गुण विद्यमान होते है। यह पानी शीतल और हल्का होने के कारण न केवल प्यास बुझाता है, वरन् थकावट को भी दूर करता है। 'भावप्रकाश निघटु' मे कहा गया है—नारियल का जल स्वादिष्ट, शीतल, हृदय के लिए हितकर, अग्निदीपक, शुक्र जनक, लघु, अत्यन्त वस्ति-शोधक, प्यास एव पित्त को शात करने वाला होता है।

'आयुर्वेद' के मतानुसार, नारियल की गिरी शीतल, भारी (देर मे हजम होने वाली) पुष्टिकारक, बलदायक, रस-रक्तादिवर्द्धक, मूत्राशय शोधक, वात, पित्त, रक्त-विकार और दाह को दूर करने वाली होती है। इसकी सूखी गरी स्निग्ध, भारी, मलस्तभक, रुचिकारक एव बल-वर्द्धक होती है।

नारियल फल के चारो ओर नारियल जटा होती है जिसमे सुदृढ रस्सियाँ तैयार की जाती हैं। इसके अतिरिक्त इसका उपयोग सोफे, कुर्सिया, मोटरकारो की गद्दियो को भरने के लिए भी होता है। नारियल जटा के अन्दर नारियल कपूर होता है जो अत्यधिक कडे पदार्थ का बना होता है। इस कर्पूर से अनेक वस्तुएँ बनायी जा सकती हैं जैसे चम्मच,

जग, प्याले-प्यालियाँ, चायदानी, बटन इत्यादि । अवपके नारियल में जल होता है जो अत्यन्त स्वादिष्ट होता है । इस निर्मल शीतल जल में शक्कर, खनिज पदार्थ तथा विटामिन होते हैं । जिन स्थानों पर यह उपलब्ध होता है वहाँ पर यह पेय पदार्थ के रूप में ग्रहण किया जा सकता है । नारियल फल में कर्पूर के भीतरी सतह में गरी होती है । जैसे-जैसे नारियल फल पकता जाता है यह गरी कड़ी होती जाती है । वैज्ञानिकों का विश्वास है कि नारियल का जन्म न्यूजीलैंड में हुआ था । समुद्र के किनारे के नारियल वृक्षों से फल टूट कर समुद्र में गिरते रहे जो समुद्री तरंगों की सहायता से संसार भर में, इधर-उधर फैल गये । जहाँ कहीं नारियल वृक्ष की आवश्यकतानुसार जलवायु तथा मिट्टी प्राप्त हुई वहाँ पर नारियल वृक्ष उग कर पनप गये । उन प्रदेशों में जहाँ अधिक वर्षा तथा सूर्य प्रकाश होता है, नारियल वृक्ष बहुतायत से होते हैं । नारियल के बाग दक्षिण पूर्व एशिया, वेस्ट इंडीज तथा ईस्ट इंडीज द्वीपों में अधिक हैं । यह वृक्ष १२ वर्ष की अवस्था में नारियल फल देना आरम्भ कर देता है । जैसे-जैसे वृक्ष की आयु बढ़ती जाती है, फलों की संख्या में भी एक सीमा तक वृद्धि होती है । फल देने का कार्य ६० वर्ष तक चलता रहता है । वैसे वृक्ष की आयु ८० वर्ष तक की हो सकती है ।

वृक्ष के ऊपरी सिरे पर वृक्ष का हृदय होता है । किन्तु यदि इस हृदय को तनिक-सा आघात पहुँचता है तो वृक्ष की मृत्यु हो जाती है । यह हृदय बन्दगोभी की भाँति पोनी सफेद पत्तियों का बना होता है तथा स्वादिष्ट होता है । नारियल वृक्ष वर्ष में केवल एक बार फल देता है । किन्तु यह फल १२ विभिन्न अवस्थाओं के उपरान्त होता है । आरम्भ में यह एक एक अनेक पुष्पों का गुच्छा होता है, इस पर कैनवेस के कपड़े के समान प्राकृतिक कपड़े की पर्त चढ़ी रहती है । इस कपड़े के अनेक उपयोग होते हैं । इनसे जूते, हैट और मैनिग टोर बनाये जाते हैं । यदि इन पुष्पों को पुनः छोड़ दिया जाता है तो मधुमक्खी इनसे

दीपक

भारत ही नहीं विश्व के अन्य देशों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में दीपक का विशिष्ट स्थान है। भारतीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक धार्मिक, सांस्कृतिक अवसर पर घी का दीपक जलाना शुभ माना जाता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त हमारे जीवन में दीपक का महत्व अक्षुण्ण है। दीपक भले ही लघु प्रकाश कण हो, किन्तु यह महाप्रकाश का प्रतीक है। दीपक उस परम तेजस अथवा सूर्य और अग्नि का अंश रूप माना गया है जो हमारे जन-जीवन में आराधना का एक पवित्र एवं अनिवार्य प्रतीक माना गया है। अपनी इस विशेषता के कारण यह केवल भारतीय संस्कृति और जीवन में ही नहीं, बल्कि विश्व के सभी देशों में अनवरत साधना, त्याग, तपस्या, ज्ञान, उल्लास आदि का प्रतीक बन गया। यह अग्नि का अंश और ईश्वरीय आलोक का पर्याय माना गया है। अनेक ऋषि, मुनियों, विद्वान, भाष्यकारों ने 'दीपक' के रूप में 'आत्मज्योति स्वरूप' ब्रह्म की कल्पना की है।

हमारे समस्त भारतीय आध्यात्मिक साहित्य में 'दीपक' का सदा गौरवपूर्ण स्थान रहा है। मीरा बाई ने कहा था—'ज्योति से ज्योति मिला जा!' कबीर की रहस्य-साधना का आधार भी 'दीपक' ही है—'अपने घट दियना बारु रे।' और इसके बाद अज्ञान का अंधकार नष्ट होते ही साधक को अनुभूति होती है कि 'सब अँधियारा मिट गया, जब

दीपक देख्या माहि।' महाकवि तुलसीदास तो 'दीपक' को भौतिक और आध्यात्मिक दोनों सम्पदा का प्रतीक मानते हैं, उन्होंने भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करने वाले 'दीपक' का वर्णन किया है—

'जगमग जोत निहार मंदिर में'
'राम नाम मणि दीप धरू, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहर हूँ, जो चाहसि उजियार॥'

श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी अपनी आध्यात्मिक रहस्यवाणी में कहा है—

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर'

'तमसो मा ज्योतिर्गमय'—मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो, की वैदिक प्रार्थना मानव मन को प्रकाश की ओर जाने की कामना की द्योतक है। मानव-इतिहास में वह दिन निश्चय ही बड़ा सौभाग्यपूर्ण रहा होगा, जब उसे प्रकाश का ज्ञान हुआ। भारतीय संस्कृति सदैव अग्नि की उपासक रही है। ऋग्वेद में अग्नि का स्थान इन्द्र के समान माना गया है। अग्नि की ज्वाला, बादल की विद्युत, सूर्य नक्षत्र आदि अग्नि के ही स्वरूप है। अंधकार का नाश करने वाला, असुरों को भगाने वाला और प्रकाश को फैलाने वाला अग्निदेव कालवद्ध होते हुए भी महान देवता स्वरूप है। इस तेजस्तत्व का दर्शन हमें दो रूपों में होता है—एक अग्नि के रूप में, जो पार्थिव तेज है और दूसरा सूर्य के रूप में। दीपक में अग्नि और सूर्य दोनों लघुरूप में समाहित हैं। सामवेद के अनुसार ब्रह्म अखंड, अक्षत ज्योति के रूप में प्रकाशित है। उसका स्वरूप अग्निमय है। ऋग्वेद में अग्नि को, 'आदिपुरुष' कहा है। कठोपनिषद (२-२-१५) के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विराट एवं विशाल ब्रह्मज्योति से ही प्रकाशमान है। परब्रह्म के बिना सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत, अग्नि आदि कोई भी प्रकाशित नहीं हो सकते।

इस विराट विश्व मे प्रकाश ही श्री-समृद्धि और सादय का मूलाधार है। प्रकृति की ओर से तीन वस्तुएँ वरदान स्वरूप मिली हैं—सूय, चन्द्र और अग्नि। जिनसे हमे प्रकाश की प्राप्ति होती है किन्तु सूय और चन्द्र स्थिर नही, सतत भ्रमणशील है। अत मनुष्य ने अग्नि को ग्रह, ग्राम और बलि का देव मानकर उसकी प्रतिष्ठापना की है। दीपशिखा की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। स्कदपुराण के अनुसार—'अग्नि-ज्योति, सूय ज्योति और चन्द्र-ज्योति'—इन सबमे दीप-ज्योति उत्तम है।'

दीप-ज्योति के प्रकटीकरण के साथ मानव सस्कृति का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। विश्व के प्राय सभी धर्मो मे किसी न किसी रूप मे दीप ज्योति का स्तवन अवश्य किया गया है। 'दीप' आत्मा और ब्रह्म के प्रकाश का प्रतीक है, वैसे दर्शन मे यह ज्ञान का भी प्रतीक माना गया है। अधकार अज्ञान का प्रतीक और उस दूर करने वाले दीपक का प्रकाश ज्ञान एव विवेक का प्रतीक है। भौतिक जगत की अनुभूति ज्ञानेन्द्रियो से की जाती है लेकिन आध्यात्मिक अनुभव ज्ञान के प्रकाश के बिना प्राप्त नही हो सकता। इसलिये लौकिक ज्ञान के अधकार को दूर करने के लिये आत्मज्ञान का दीपक हमारी देह मे प्रकाशित है। उसकी पवित्र ज्योति के साथ एकाकार हो जाना ही आध्यात्मिक साधना की चरम परिणति मानी गयी है।

प्रकाश तथा अग्नि का तेजपुज आत्मा है जो ब्रह्म का एक लघु अश मात्र है। आत्मा मे उसका प्रकाश और अग्नि स्वल्प रूप मे समाविष्ट है। परन्तु आत्मा उस परब्रह्म के अश के कारण आत्मा है और उनके कारण ही प्रकाशित आत्मा का लघुत्व तथा उसमे ब्रह्म के प्रकाश को व्यजित करने के लिये भारतीय मनीषियो को दीपक से अधिक सुन्दर अन्य कोई प्रतीक मिलना सम्भव नही था। अत उन्होंने आत्मा, प्राण और जीवन को दीपक की ज्योति माना है। भगवान बुद्ध अपने प्रवचन

मे बार-बार दीप का दृष्टान्त देते हैं और मानव जीवन का अंतिम सत्य भी इसी दीप को माना गया है।

'दीपक' आध्यात्मिक और भौतिक आनंद तथा विकास का प्रतीक बन कर हमारे लोक जीवन का भी अभिन्न अंग बन गया। ईश-पूजा से लेकर हर उत्सव-आनंद के आयोजन मे उसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। मंदिरो में लेकर घरो तक बिना दीपक के 'देव-पूजा' सम्पन्न नही हो सकती। जन्म और विवाहोत्सवो मे उसका विशेष स्थान माना गया और (जच्चा गृह) और विवाह मंडप मे 'अक्षय-दीप' जलाने की प्रथा आज भी प्रचलित है। धन-वैभव की देवी 'लक्ष्मी' की पूजा के दिन दीपावली पर तो विशेष रूप से दीपक जलाकर लक्ष्मी का आवाहन किया जाता है।

विश्व के अन्य सभी देशो के विभिन्न सम्प्रदायो और संस्कृतियो म दीपक को इसी प्रकार का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ईसाई समाज मे विभिन्न पर्व, विवाह, जन्म आदि संस्कार बगैर दीपक-ज्योति के पूरे नही हो सकते। ईसाईयो का बडे दिन 'क्रिसमस' का उत्सव सारे विश्व मे दीपावली के समान ही दीपो के प्रकाश मे मनाया जाता है। मुस्लिम समाज मे भी कब्रो, मजारो पर दीपक जलाने की प्रथा आज भी है। विवाह उत्सव आदि के अवसरो पर इनमे भी दीपक जलाकर सजावट करने का रिवाज है। इतना ही नही दीपावली के समान ही दीपक जलाकर 'शबेरात' का त्योहार मनाया जाता है। इनके धर्म-गुरु मुहम्मद साहब ने तो प्रातःकालीन प्रकाश को विश्व की प्रेरणा का स्रोत माना है जो सवकालीन अंधकार और निराशा के विनाश का प्रमाण है।

बौद्ध धर्म भारत से ही दुनिया के अनेक देशो मे पहुँचा। अतः बौद्ध समाज मे भी दीपक को उतना ही गौरव प्राप्त है जितना भारतीय जन-जीवन मे। बौद्ध मंदिरो मे 'अखंड दीप' प्रज्वलित रहता है। विशेष

उत्सवों और पर्वो पर घरों और देवस्थानों को दीपक जलाकर सजाया जाता है। बौद्ध-दर्शन में 'दीपक' विवेक, ज्ञान साधना, तपस्या और त्याग का प्रतीक माना गया है। पारसी लोग तो अग्नि के उपासक ही है। इनके देवस्थान—अग्यारी में 'अक्षय अग्नि' प्रज्वलित रहती है। कहा जाता है कि उनकी यह 'आदि अग्नि' कभी बुझी नहीं। इस समाज के लोग जहाँ भी गये, अपने मंदिरों के लिए यह 'अक्षय अग्नि' अपने साथ ले गये। इनके धर्मग्रन्थों में यह उल्लेख है कि परमात्मा अमर ज्योति में अंतर्निहित रहता है। ईश्वर 'परम ज्योति' का पर्याय है।

यहूदी समाज में भी 'सबाथ' पर्व का स्वागत मोमबत्तियां जलाकर किया जाता है। आठ दिनों तक मनाया जाने वाला धार्मिक पर्व 'हनुकाह' पहले दिन एक, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन, इसी प्रकार प्रत्येक दिन एक-एक मोमबत्तियों की संख्या बढ़ाकर अन्तिम दिन सारा घर उनके प्रकाश से आलोकित कर, सम्पन्न किया जाता है। इन लोगों के लिए भी दीपक (मोमबत्ती) की जलती 'ज्योति' अंधकार पर प्रकाश की, अन्याय पर न्याय की और असत्य पर सत्य की विजय का प्रतीक है। इसीलिए सभी उत्सवों में यहूदियों ने 'दीपक' को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

दीप के साथ ही आकाश दीप की परम्परा हमारे सामाजिक जीवन में उल्लेखनीय है। आकाशदीप प्राचीन काल में बन्दरगाहों के पास जलने वाले विशाल दीपकों के प्रतीक रहे हैं जिन्हें आज लाइट हाउस कहा जाता है। इनका लक्ष्य समुद्र के यातायात को निर्देश प्रदान करना रहा। आज भी कार्तिक मास में हम आकाशदीप अथवा कंडील अपने दरवाजों पर जलाकर अपने पितरों को श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हैं। इस प्रथा का प्रचलन वाराणसी में विशेष रूप से है जहाँ गंगा नदी के तटीय मकानों पर हजारों की संख्या में आकाश दीप जलाये जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत सहित पूरे विश्व की सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों में दीपक का एक-सा गौरवपूर्ण स्थान है। वह हमारे लौकिक और पारलौकिक—दोनों जीवन के सुख-समृद्धि का प्रतीक है। वर्तमान युग में हो रहे प्रकाश के अनेकानेक वैज्ञानिक अनुसंधानों के बावजूद हमारे समाज में दीपक की गरिमा, महत्ता और महिमा अक्षुण्ण है।



पान

भारतीय संस्कृति और सामाजिक परम्परा में अत्यन्त प्राचीन काल से पान का अपना विशिष्ट महत्व रहा है। देव-पूजा, अतिथि-सत्कार, सम्मान-प्रदर्शन, स्नेह-मिलन तथा मांगलिक कार्यों के शुभ-अवसर पर पान का उपयोग होता है। पान को ताम्बूल, नाग वेल, नागपर्णी, नागवल्ली आदि विविध नामों से सम्बोधित किया जाता है। हिन्दू धर्म-शास्त्रों के अनुसार पान को देवलोक से पृथ्वी पर आयी वस्तु बताया गया है। रामायण, महाभारत, कामसूत्र आदि हमारे सभी प्राचीन ग्रंथों में पान की प्रशंसा की गयी है। पान की उत्पत्ति वासुकि नाग से बतायी जाती है। 'स्कन्द पुराण' के अनुसार पान समुद्र-मंथन में निकले अमृत का ही तत्व है। समुद्र-मंथन के समय देवताओं के अमृत पी लेने के पश्चात् जो शेष बच गया, उसे नर्तकी रूप धारिणी विष्णु ने इन्द्र के ऐरावत, जिसका एक नाम नागराज भी है, आलान के पास रख दिया। कुछ समय बाद उस अमृत-तत्व से एक विशेष प्रकार की वल्ली प्रस्फुटित हुई, जिसकी पत्तियों में इतनी मादक गन्ध थी कि समुद्र-मंथन से थके देवता मुग्ध हो गये। जब इसकी खबर देवों के वैद्य धन्वन्तरि को मिली तो वे इस वल्ली के गुणावगुणों का शोध करने के लिए आये। यह वल्ली नागराज के आलान से उत्पन्न हुई, इसलिए इसका नाम उन्होंने 'नागवल्ली' रखा। राजशेखर के 'प्रबन्ध कोष' से विदित है कि, पाताल लोक के राजा वासुकि नाग ने भूलोक के राजा उदयन को अपनी कन्या ब्याही थी।

उस अवसर पर दहेज म चार वस्तुएँ मिली थी, उनमे एक 'नागवल्ली' भी थी।

महाभारत मे जब पाडवो ने राजसूय यज्ञ का आयोजन किया तो उसमे पान की आवश्यकता पडी। इसके लिए पाडवो के दूत हर दिशाओ मे गये लेकिन सभी जगह मे निराश होकर लौट आये। इस पर अर्जुन स्वय पाताल लोक गये और वहाँ की राजरानी ने अपनी कनिष्ठा अगुली का एक पोर काट कर दे दिया और कहा कि इसे धरती पर आरोपित कर देना तब ताम्बूल-बेलि प्राप्त होगी। इस तरह पृथ्वी पर पान की लता का प्रादुर्भाव हुआ।

वैदिक काल म पान देवताओ को अर्पित किया जाता रहा। आज भी पूजा अथवा धार्मिक अनुष्ठानो के समय और हवनादि मे देवी-देवताओ को इसे समर्पित किया जाता है। पान को मुख शुद्धि हेतु पवित्र माना गया है। शोक निवारण के कार्यों म भी पान का उपयोग होता है। इसके प्रचलन का प्रथम प्रामाणिक वर्णन गुप्त काल के अभिलेखो मे मिलता है। मन्दसौर के कुमारगुप्त बन्धुवमन के शिलालेख मे ताम्बूल सेवन का उल्लेख है। मन्दसौर के बुनकरो की गुप्त-कालीन भारत मे अधिक प्रसिद्धि थी और यहा का रेशमी वस्त्र महिलाओ के लिए आकर्षण की वस्तु थी। इन महिलाओ का प्रसाधन तब तक पूर्ण नही माना जाता था जब तक कि ये ताम्बूल का सेवन भी न कर लें। इस युग मे पान का उपयोग स्वास्थ्य की अपेक्षा शौक या शोभा अर्थात् मुख सुरभित करने के लिए ही करते थे। स्त्रियो के लिए तो शृगार का मुख्य प्रसाधन ही था और उनके सोलह शृगारो की एक प्रमुख वस्तु थी। विवाह और अन्य खुशी के संस्कारो मे पान का प्रचलन प्राचीनकाल से रहा है। विवाह के समय पान का बीडा देकर एक दूसरे की दीक्षा दी जाती है। फिर भी आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से पान का उपयोग कुछ कम महत्व नही रखता। पान का

स्वास्थ्य के साथ जो सम्बन्ध है, उसका विवेचन सभी वैदिक ग्रन्थों मे उपलब्ध है।

पान खाने की भी एक विशिष्ट पद्धति है। ऐसा नही कि, जिस तरह पान मिला, खा लिया, और पान का बीडा सजाना भी एक विशिष्ट कला है। प्राचीन काल म जब पान का बीडा बनाया जाता था, तो उसके ऊपर सुगन्धित द्रवो से चित्र भी बनाये जाते थे। श्री हर्ष ने नैषध चरित्र मे एक स्थान पर लिखा है कि जिस समय दमयन्ती ने राजा नल का वरण किया, उस समय नल के अनुचरो ने अन्य राजाओं का पान द्वारा ही सत्कार किया था। बैताल पच्चीसी मे राजा द्वारा दिगम्बर शान्तिशील भिक्षु का पान और आसन देकर सत्कार करने का वर्णन है। वाणभट्ट की 'कादम्बरी' में चन्द्रापीड के प्रथम दर्शन करने पर उसका स्वागत पान का बीडा देकर करने का वर्णन है। रामचरित मानस मे भी गोस्वामी तुलसीदास न राजा जनक द्वारा भोजनोपरात पान से सत्कार करने का वर्णन किया है—

'देइ पान पूजे जनक, दशरथ सहित समाज,
जनवासेहि गवने मुदित, सकल भूप सिरताज।'

गोपीनाथ पाठक ने भी 'सभा विनास' म बडो के साथ छोटो के बडाई प्राप्त करने के सिलसिले मे पान का उल्लेख किया है —

'जाहि बडाई चाहिए, तजे न उत्तम साथ,
ज्यों पलास सग पान के पहुँचे राजा हाथा।'

पान दाम्पत्य-जीवन मे मनोविनोद का भी साधन है यथा एक बुन्देली लोकगीत मे पति के बाजार जाने के समय पत्नी पान-सुपारी, कत्था और चूना लाने को कहती है—

'पिया बजारे जात हो, वस्तु लिअइहा चार,
सुआ, परेवा, क्लिकिला बिगुला की उनहार।'

अरब यात्री अलबरूनी ने भारत-भ्रमण में भारतीयों की ताम्बूल-प्रियता की विस्तार से चर्चा की गयी है यथा—'यहाँ के लोग पत्ते में मसाला भर कर चबाते हैं और उसमें मुँह लाल हो जाता है। पान से लोगों की पाचन-शक्ति बढ़ जाती है और मुख सुवासित हो जाता है।' तेरहवीं शताब्दी में इब्नबतूता ने अपनी भारत यात्रा विवरण में लिखा है कि भारत में पान इतना लोकप्रिय है कि अतिथि को पान देना विश्व के सबसे कीमती वस्तु को देने के समान था। पाँच पान देना सोने-चाँदी को देने से भी अधिक था। इदरीसी ने भारतीय पान की बहुत प्रशंसा की है। अल-मसूदी लिखता है, 'पान एक प्रकार का पत्ता है जो भारत में पैदा होता है और जब इसमें चूना और कत्था मिलाकर खाते हैं, तब अनार के दाना की तरह दांत लाल हो जाते हैं। समाज में पान का सेवन नहीं करने वाले की प्रतिष्ठा नहीं होती अर्थात् ताम्बूल सेवन से प्रतिष्ठा बढ़ती थी। यह स्वास्थ्यवर्द्धक भी होता है।'

मुगल काल में पवित्रता और शौर्य का प्रतीक पान विलास का माध्यम बन गया। मुगल बादशाहों विशेष रूप से बेगमों में पान अधिक प्रचलित था। औरंगजेब अपनी एक पुत्री के काम से बताया जाता है कि इतना प्रसन्न हुआ कि उसने सूरत क्षेत्र का इलाका उसे पान खर्च के लिए दे दिया जिसकी वार्षिक आय उस समय तीन लाख रुपये थी। शाही दावत के बाद दरबार में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति को रेशम के धागे में बँधे पन्द्रह पान दिये जाते थे। अबुल फजल ने आइने अकबरी में पान के गुणों का सविस्तार वर्णन किया है।

पान एक शक्तिवर्द्धक, एक रक्तशोधक पौष्टिक खाद्य वस्तु भी माना जाता है, जो शरीर के पोषण के लिए आवश्यक तत्वों जैसे कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, कैल्शियम, लौह, थायामिन निकोटीनिक सहित २० उपयोगी तत्व प्रदान करता है। मंदाग्नि और कब्ज को दूर कर पाचन-शक्ति को बढ़ाता है और रक्त में ओज और कान्ति पैदा कर रक्त को शुद्ध करता है।

वैज्ञानिक प्रयोगो से यह सिद्ध हो चुका है कि पान खाने से कैंसर की बीमारी नही होती तथा यह दाँतो, मसूडो की पायरिया आदि रोगो से बचाता है। पान हमारे शरीर मे उत्पन्न दोष रक्तचाप आदि को नियन्त्रित करता है। जी मिचलाना, उबकाई आना, मुँह का स्वाद फीका लगना और उल्टी होने की स्थिति मे पान लाभकारी व पित्तमारक है। पान के प्रयोग मे पेट के केंचुए (हुकवाम) समूल नष्ट हो जाते है और फिर कभी पैदा नही होते। पान हृदय-रोगो के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है जो हृदय की गति को नियन्त्रित कर सकोचन को समाप्त करता है। पान के तत्व हृदय पर क्वानोडीन की तरह काफी समय तक स्थायी रूप से प्रभावी होते है।

इस तरह भारतीय जन-जीवन और भारतीय सस्कृति मे पान का विशेष महत्व है। यह हमारी सस्कृति और सभ्यता का प्रतीक हो गया है।



माला

माला भारतीय पूजा-विधि की एक अमूल्य वस्तु है। इसके माध्यम से व्यक्ति न केवल अपनी चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर भगवान की आराधना करता है, वरन् उसका साक्षात्कार भी कर सकता है। मन की शान्ति और मोह माया से जीव को त्राण दिलाने मे, माला अपनी मुख्य भूमिका अदा करती है। माला को सर्वमगलकारी भगवन्नाम जप का सवश्रेष्ठ आधार माना जाता है। माला का व्यवहार प्राय सभी धर्म, मत, मजहब, सम्प्रदाय और सभी देशो मे देखा जाता है। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, जैन, बौद्ध सभी माला का व्यवहार करते है पर इसकी पद्धतियाँ अलग-अलग है। इसमे सन्देह नही कि इन देशो को भारत से ही माला की शिक्षा-दीक्षा मिली है।

जप करने के पूर्व माला मे जलाभ्युक्षण कर (ऐं ह्रीं) 'अक्षमालिकाये नम' मत्र से माला की पूजा करें। फिर दाहिने हाथ मे लेते हुए हृदय के समीप ले जा कर मध्य अगुली के मध्य भाग मे समाहित चित से स्थापित कर और मध्यमा (बीच की अगुली) के अग्र भाग द्वारा उपान्तर क्रम मे उसे फेरें। अगर अगूठे से माला फेरी जाये तो जप निष्फल हो जाएगा। बाँयी हथेली या तर्जनी के द्वारा अथवा अपवित्र अवस्था म माला का स्पश न करें। भुक्ति, मुक्ति और पुष्टि कामना सहित मध्यमा (बिचली) अगुली से जप करें। वस्त्र मे दोनो हाथो को ढक कर सदा दाहिने हाथ मे जप करें। गुरुदेव को भी माला न देखने दें। माला के जिस हिस्से

की मनका स्थूल है उसी हिस्से की पहली मनका से जप प्रारम्भ कर सूक्ष्म अश की शेष मनिका से जप समाप्त करें। इस प्रकार सूक्ष्म अवधि से स्थूल के अन्त तक जप सहार नाम से अभिहित होता है। अपने बायें हाथ से माला स्पर्श न करें। जप के समय पवित्र स्थान मे माला रखे। सूता जब टूट जाये तो पुन नए सिरे से गूथे तब सौ बार जप करे। अदीक्षित पडित भी यदि माला छू दे तब भी माला को फिर मे शुद्ध करे या साधें। कर, कठ्य, मस्तक मे जप की माला धारण न करें।

भारतीय-सस्कृति मे १०८ अक का बडा महत्व है। हिन्दू धर्म शास्त्रो मे १०८ की सख्या की विशेष मान्यता है। पूजा-पाठ मे १०८ की गिनती पवित्र मानी जाती है। इसीलिए १०८ दाने की माला भी जप के लिए पवित्र समझी जाती है। विरक्त सत महात्माओ और सन्यासियो आदि को भी श्री १०८ से विभूषित और सम्बोधित किया जाता है। उपनिषदो की सख्या एक सहस्र से ऊपर होने के कारण प्रमाणित उपनिषदो की सख्या १०८ ही नियत की गई है। अत इस १०८ की सख्या मे उसकी पवित्रता, गौरव और महत्व का कोई रहस्य अवश्य छिपा हुआ है। इस १०८ के अक मे माया एवं ब्रह्मत्व का गूढ रहस्य छिपा हुआ है। भक्त-साधक, तन्त्र-उपासक और पौराणिक इस सख्या को मगलमय मानते है। विरक्त साधु-महात्माओ को भी श्री १०८ से विभूषित और सम्बोधित किया जाता है और अन्य स्थानो पर भी इस सख्या को शुभचिह्न व रहस्य सज्ञा के रूप मे काम मे लाया जाता है।

भारतीय धर्मग्रथो का सबसे प्रथम और सबका सारभूत शब्द 'ब्रह्म' है। उपनिषदकारो ने उसकी महिमा गायी है। इसे जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। यह शब्द निराकार परमात्मा का बोधक है। यही उपास्य है। यही उच्चाय है। १०८ की सख्या उसी की सज्ञा मान कर माला के मनके की सख्या भी १०८ नियत की गयी है अत इस अभिप्रेत सख्या का रहस्य अन्वेषणीय है। सबसे पहले 'ब्रह्म' शब्द को

ही लीजिए, इसमे चार वर्ण हैं व र ह्र तथा म वर्णमाला दो भागो मे विभक्त है—स्वर और व्यजन। स्वर सोलह है, अत प्रत्येक को १, २, ३, ४ मे लेकर सोलह तक सख्या दीजिए। व्यजन छत्तीस हैं, उसे छत्तीस तक सख्या दीजिए।

इस प्रकार ब्रह्म का आदि अक्षर 'व' व्यजन है—'क' से 'व'—२३वा अक्षर, 'र' २७वाँ अक्षर है। 'ह' ३३वाँ अक्षर और 'म' २५वाँ अक्षर है। तो चारो वर्णो की सख्या—२३+२७+३३+२५=१०८ है। 'ब्रह्म' शब्द से अष्टोत्तर-शतत्व भरा हे इसीलिए १०८ की सख्या परमपवित्र मानी गयी है। इस 'ससार' की उत्पत्ति 'ब्रह्म' मे हुई है। एतदर्थ 'ससार' की सख्या देखें तो स+अ+स+आ+र=३२+१५+३२+२+२७=१०८। विशिष्टाद्वैत मे सीता और राम भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। इन दोनो शब्दो का योग होने से 'पूर्ण' बनते हैं। अत दोना शब्दो के सयोग से ही १०८ की सख्या पूर्ण होती है। 'राम' मे तीन अक्षर है—र, आ तथा म। र 'क' २७वाँ, आ—'अ' मे दूसरा तथा 'म' २५वा अक्षर है। अत इनकी सख्या—२७+२+२५=५४ हुई। सीता मे चार अक्षर हैं—स ई त तथा आ। स 'क' मे ३२वाँ, ई 'अ' मे चौथा त १६वाँ तथा आ 'अ' से दूसरा अक्षर है। अत ३२+४+१६+२=५४ हुई। दोनो मिलाकर १०८ पूर्ण सख्या हुई।

योगसूत्र के अनुसार हमारे देह-स्थान मे ८ चक्र हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, नाभि, अनाहत, हृदय, आज्ञा और शून्य (सहजावस्था) इसी साधना द्वारा कुडलिनी शक्ति जाग्रत होती है और परम साक्षात्कार प्राप्ति। अत 'शिवस्वरूप' बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह आयुष्य के शत शरद—(१०० वर्ष) तक आराधना करके, उसी अवस्था को प्राप्त करें। १००+८=१०८ इस तरह यह सख्या आध्यात्मिकता की भी परिचायक है। जीव इस जगत पर जब जन्म धारण करता है, तो वह जन्मकुडली मे १२ राशिस्थान के ९ ग्रहो से आवृत

रहता है। इस तरह १२×६=१०८। इस प्रकार १०८ के सम्मुख फलित करने पर योग ६ होता है। अथवा १०+८=१८ हुए, १८ मे १+८=६ ही हुए। ६ सख्या बडी रहस्यमयी है। इसे पूर्णाङ्क कहा है। इस अक मे बडा एव शास्वत कोई अक ही नही है। यह ६ अक को किसी भी सख्या से गुणन करने पर आयी सख्या का योग ६ ही मिलेगा। यह अक अपने मे स्वत परिपूर्ण, पूर्णता की सीमासूचक है। ऐसा, हमारे प्राचीन मनीषियो ने बताया है।

जैन दर्शन मे ८ कर्म माने गये हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अतराय। इन अष्ट कर्मों का जीवात्मा अपनी १०० साल की आयु मर्यादा म क्षय करके 'केवल ज्ञान'—मोक्ष की प्राप्ति करे। इसीलिए १००+८=१०८ पच परमेष्ठि के गुणा का स्मरण करने का शास्त्र विधान है।

बौद्धो की माला मे १०८ दाने होते हैं। कहा जाता है कि गौतम बुद्ध के जन्म के समय १०८ ज्योतिषी उनका भाग्य बतलाने के लिए बुलाये गये थे और माला के १०८ दाने इसी बात के प्रतीक ह। बर्मा मे बुद्ध के पदचिन्ह के भी १०८ भाग है। तिब्बत मे बौद्धो का धम लेख 'कहग्यूर' भी १०८ पक्तियो मे लिखा है। चीन का पीकिंग स्थित श्वेत मदिर १०८ यूपो से घिरा है। जापान मे मृतक श्राद्ध मे १०८ दीपक जलाये जाते हैं और १०८ रुपये दान दिये जाते ह। उनके यहा सवत्र १०८ का महत्व है। गौतम बुद्ध की मृत्यु के समय भी उनकी चिता की १०८ प्रदक्षिणाएँ की गयी थी। अत माला मे १०८ दाने होते हैं।

बर्मा, लका, चीन, जापान आदि देशो मे बौद्ध धर्म ही प्रचलित है और उनकी मालाओ मे भी कुछ भिन्नता रहती है। भारतीय बौद्धो की माला प्राय हिन्दुओं की माला के समान ही होती है। तिब्बत वाले माला को 'थेंगवा' या 'थेंगनाहगार' कहते हैं। इसे लामा-का अवश्य पहनावा माना गया है। जापानी बौद्धो की मालाएँ ११२ दानो की होती

हैं और उनमें दो सुमेरु ५६ दानों के बाद होते है। जापान मे पहले पीपल काष्ठ की माला बनती थी, क्योंकि वहाँ यही बोधि वृक्ष है और उसके नीचे शाक्य मुनि गौतम को दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ था। पर वहाँ पीपल की लकडी कम मिलती है, अत अब बेर और रुद्राक्ष की माला अधिक बनने लगी है। जापान मे धार्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्रों मे भी माला का महत्व है। उनके चाय पीने के कमरो और दुकानो पर भी माला लटकाने के लिए विशेष खूटियाँ बनी है। वे युद्ध मे भी माला पहनने और आभूषण के रूप मे भी इसका उपयोग करते है।

अरब, ईरान, तुर्की आदि देशों मे ९९ दानों की तसबीह (माला) होती है। मुख्य दाना 'इमाम' कहलाता है। इनकी माला तीन भागों मे बँटी होती है। प्राय प्रत्येक भाग मे दोनो का रूप-रंग दूसरा होता है। उसका आकार भी दूसरा होता है और वे भिन्न-भिन्न द्रव्यों से बने होते है। एक दूसरी माला का भी प्रचलन है, जिसमे १०१ दाने होते हैं। इससे १०१ पैगम्बरों का नाम जुड़ा माना जाता है। कहीं-कहीं ये दाने अल्लाह से ही सम्बद्ध माने जाते है। इस्लाम मे १०८ संख्या के मनके की तसबीह (माला) मानी गयी है। तसबीह शब्द 'तोबा' से बना है। तोबा का अर्थ है, जब कोई आदमी भूल कर बैठता है अथवा अपने द्वारा किसी को दुख पहुँचे, ऐसा धर्म विरुद्ध आचरण किया गया हो, ऐसे समय मुसलमान 'तोबा', 'तोबा' कह कर खुदा से क्षमा माँगता है। तोबा मे चार वर्ण है, त ओ ब् आ। इन चारों वर्णों का वर्णमाला के क्रमांक १६+१३+२३+२=५४ हुए। इसी तरह तोबा, तोबा की संख्या १०८ हुई। तसबीह मे ९९ गुरिया होते हैं। उस पर अल्लाह का नाम जपा जाता है। जैनो की जप माला मे १११ दाने (मोती) होते है। इनमे १०८ पर तो वे 'णमो अर्हताय' का जप करते है, शेष तीन पर 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्रेभ्योनमः' का जप करते है। सिक्खों की माला मे दाना की जगह सुनायी रुई की गाठ होती है। यह चूँकि टिकाऊ नहीं होती अतः

कभी विशेष उत्सवो पर लोहे के दानो की माला का व्यवहार करते देखे जाते हैं। जैनियो के यहाँ मणियो के अतिरिक्त काचनीया माला का प्रचलन है। हिन्दुओ के यहाँ वैजयती माला भी प्रसिद्ध है। भगवान विष्णु प्राय इसे धारण करते हैं। 'वेजयती च मालाम्' (श्रीमद्भागवत), 'उर वैजन्ती माल' या इसके अतिरिक्त 'वनमाला' और 'जयमाला' का भी उल्लेख मिलता है। 'उर' श्रीवत्स रुचिर वनमाला' व 'पाणि सरोज सोह जय माला'। कुछ लोगो के मत से ये तीनो एक ही है और कुछेक मत के अनुसार भिन्न-भिन्न।

इस प्रकार भारत सहित विश्व के अनेक देशो के धार्मिक क्रिया-कलापो मे माला को प्रमुख स्थान प्राप्त है। माला मन को ईश्वर की ओर ले जाने का मुख्य साधन है। इसी को दृष्टि मे रखकर कबीर ने यह कहा भी है

'कबिरा माला काठ की कहि समुझावे तोहि
मन न फिरावे आपनो काहि फिरावे मोहि।'

अत मन को एकाग्र कर ईश्वर मे लगाने के उद्देश्य से माला को कर मे धारण किया जाता है ताकि चचल मन का पिरोये गये मनके के दाने की माला की तरह ही ईश्वर के ध्यान म बाँधा जा सके।



घंटी

नव वर्ष दिवस, बडे दिन, हिन्दुओ के त्योहारो एव अन्य महत्वपूर्ण अवसरो पर गिरजाघरा, मदिरो तथा अन्यान्य स्थानो पर घटियाँ बजा करती ह। मदिरो, मठो तथा गिरजाघरो की घटिया शताब्दियों से अपने मे एक नूतन सदेश सजोये हुए ह। ये अपने नव-स्वर एव नव-सदश से करोडा जनता को नवीन काय करने के लिए उत्प्रेरित एव अनुप्राणित करती रही ह। घट-घरियालो का स्वर ही ईश्वर, महेश्वर, कामेश्वर, धर्मेश्वर, रत्नश्वर और रामेश्वर है। सभी प्रकार के स्वर इस स्वर मे निहित ह। इसके सुस्वर मे तन्तुवाद्य, वीणावाद्य, मृदग स्वर अनाहत सभी विद्यमान रहते है। इसका स्वर सभी स्वरो की ग्रथिका ह। इसके बोल वाणी का वितान ह। इसकी आवाज काल की आवाज है, अनन्त शून्य के बोल ह और न जाने कितने इतिहास इसी कालचक्र से निकल कर इसी मे समाविष्ट हो गये। जिस प्रकार मदिरा म बजने वाले घटा-घरियाला की आवाज प्रत्येक हिन्दू के हृदय मे एक अप्रत्याशित सुख एव सात्विक भावना की सृष्टि करती है उसी प्रकार गिरजाघरो की घटियाँ भी प्रत्येक ईसाई धर्मानुयायी के हृदय मे एक नवीन सदेश एव भावना को पैदा करती है। दोनो ही घटियो के स्वर प्रेरक एव सुखद भावना का सचार करने वाले होते है। शताब्दियो से ये घटियाँ अपने उसी स्वर मे बजती चली आ रही है और शताब्दियो से उनकी आवाज म भी कोई आधारभूत परिवतन नही हुआ है लेकिन इन घटियो के सदेश प्रति वर्ष प्रत्येक अवसर

पर हमारे हृदय मे एक नूतन दृष्टिकोण एव भावना की सृष्टि करते आ रहे है।

बौद्ध मठो एव मदिरो म पूजा एव अर्चा के लिये घटा एव घरियाल वजा करते है। इन घटा एव घरियाला के मदिरो मे वजने का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मदिरो एव मठो के कायम होने का। मदिरो मे आरती का विशिष्ट विधि-विधान पुराने जमाने से ही चला आ रहा है जिसका पालन आज तक किसी न किसी रूप मे किया जा रहा है। इस विधि-विधान म घटा-घरियालो के बजाने को प्रमुख स्थान दिया गया ह। प्रतिदिन प्रात दापहर तथा सध्या समय आरती के समय मदिरो मे घटा-घरियाल बजाये जाते है। उनके बजान का यह भी तात्पय था कि अब पूजा-अर्चा का समय हो गया है इसलिये सभी लाग मदिर मे उपस्थित हो जाएँ। छोटे धार्मिक कृत्यो एव देवी-देवताओ की पूजा के समय हिन्दू जनता छोटी घटियो का वजाया करती है। भारत मे घटियो को बजाकर पूजा करने का समारम्भ महात्मा गौतम बुद्ध के जन्म से पूर्व हो गया था। मोटे तौर पर इसका इतिहास ईसा से पूर्व ढाई हजार वप आँका जा सकता है। बौद्ध काल मे अशोक के समय मे तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय मे पूजा अर्चा के समय बौद्ध मदिरो मे घटा-घरियाला के बजाने की प्रथा काफी चल पडी थी। उसके बाद से लेकर आज तक यह प्रथा अपने उसी रूप मे चली आ रही है। हमे यह पता है ही कि सोमनाथ के मदिर मे पहले आरती को कितना महत्व दिया जाता था और आरती का कायक्रम घटा तक यहाँ प्रतिदिन चला करता था। इस प्रकार हिन्दू मदिरा तथा बौद्ध मठा म आरती के समय घटा-घरियाल नियमित रूप से पहले बजा करते थे। सिक्खो के गुरुद्वारो के बारे मे भी यही बात कही जा सकती है। बौद्ध विश्वासो के अनुसार मदिरा मे घटियो के वजन से जनता मे मुक्ति प्राप्त करने की भावना पैदा होती है। बादशाह जहाँगीर की न्यायप्रियता प्रसिद्ध है। इन्होने आगरा के किले

मे शाहबुज तथा यमुना तट पर स्थापित एक पाषाण-स्तम्भ के बीच ४ मन की शुद्ध स्वर्ण शृखला बँधवा दी थी। इस ३० गज की न्याय-शृखला म ६० घटियाँ लटकी हुई थी। कोई भी व्यक्ति इसे खीच कर बादशाह से न्याय मांग सकता था।

गिरजाघरो मे घटियो के बजने की प्रथा का प्रचलन इटली से प्रारम्भ हुआ बताया जाता है। एथेन्स मे पुराने जमाने म घंटी बजाकर बलिदान किया जाता था जो पुजारी किया करता था। इतिहासकार प्लीनी के अनुसार उसके समय से पूर्व घटियो का सूत्रपात हो चुका था जिन्ह 'टिनटिनाबुला' कहते थे। बताया जाता है कि पहले गिरजाघरो मे छोटी लकडी के जोड़े बजाकर लोगों को एकत्रित किया जाता था जिस कारण इन्ह 'पवित्र बोड' कहा जाता था। वर्तमान समय म भी रोमन कैथलिक लकडी के पटरे को बजाकर गुरुवार की प्रार्थना किया करते ह। कहा जाता है कि कम्पानिया नोलास्थान के पादरी पालिनस ने चौथी शताब्दी मे गिरजाघरो की घटियो का प्रचलन किया। छठी शताब्दी म घटियो का उपयोग कनवेन्टो मे किया जाने लगा। उन्ह गिरजाघरा की छता पर एक फ्रेम रख दिया जाता था। पोप साविनियन ने, जिनकी मृत्यु ६०६ ईसवी मे हुई थी सवप्रथम यह आदेश दिया कि प्रत्येक घटे की समाप्ति की सूचना घटे की आवाज देकर की जाय ताकि जनता को समय की जानकारी हो जाया करे। बताया जाता है कि ब्रिटेन म गिरजाघरो की घटियो का प्रचलन गिरजाघरो के निर्माण के समय से ही हो गया था। कहा जाता है कि सातवी शताब्दी के अन्त मे इसका प्रारम्भ वेडे ने किया। इसके बाद फ्रास, जमनी, स्वीटजरलेण्ड तथा अन्य स्थानो पर घटियो को बजाने की प्रथा चल पडी।

घटिया तांबे तथा टिन के सम्मिश्रण मे सामान्य रूप से बनती ह जिनका अनुपात क्रमश ८० तथा २० का होता है। मास्को का घटा ससार प्रसिद्ध बताया जाता है। यह मन १६५३ म रानी ऐने के समय मे

ढाला गया था जिसका वजन ४४३७७२ पौण्ड है। यह अब तक बने सभी घंटो मे बडा है। इसी नगर के सेन्ट इवान गिरजाघर में जो घंटा है वह १२७८३६ पौण्ड का तथा दूसरा ३६८७२ पौण्ड का है। पेरिस स्थित नये गिरजाघर मॅट्रेवार का घंटा करीब ६२००० पौण्ड का है जो सन् १८६५ मे टांगा गया था। जर्मनी के इरूफर्ट स्थान का प्रसिद्ध घंटा मैरिया ग्लोरिसा कहलाता है जो १४९७ मे ढाला गया था। आक्सफर्ड स्थित क्राइस्ट चर्च की घंटी १७००० पौण्ड की है, लिंकन की घंटी ९८९४ पौण्ड तथा सन् १८८२ मे ढला लन्दन के सेंट पाल गिरजाघर का घंटा ३७४०० पौण्ड का है। नानकिन का प्रसिद्ध घंटा ५०००० पौण्ड तथा पेकिंग के ७ प्रसिद्ध घंटों मे से प्रत्येक का वजन १२००० पौण्ड है। बताया जाता है कि मकानो में घंटी बजाने का प्रचलन आधुनिक है जिसे ब्रिटेन की रानी एनी ने शुरू किया। आजकल नगरो के मकानो मे विद्युत घंटी लगायी जाती है ताकि नवागंतुक के आने की जानकारी प्राप्त हो सके।

जापान के बौद्ध मंदिरो मे सर्वप्रथम क्योटो के मोशिनजी मंदिर मे जो घंटा है उसे ६९८ में तैयार किया गया। यह घंटा ऊंचाई में लगभग ६ फुट है। जापान मे सबसे बडा घंटा आठवी शताब्दी मे ढाला गया था जो ३० टन का है और जिसकी ऊँचाई १२ फुट की है। नारा स्थित टोडाजी मंदिर म बुद्ध की प्रतिमा के पास जो विशाल घंटा है वह सन् ७५० में ढाला गया था। जापान के बौद्ध मंदिरो के सभी ऐतिहासिक घंटे प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता के प्रतीक रूप मे राष्ट्रीय सम्पत्ति के तौर पर सुरक्षित रखे गये हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के न्यूयार्क स्थित प्रधान कार्यालय मे एक जापानी घंटा है। बताया जाता है कि यह घंटा जापान मे सन् १९५२ मे ढाला गया था और इसके ढालने मे ६४ विभिन्न देशों के सिक्को तथा पोप द्वारा शान्ति के प्रतीक स्वरूप दिये गये एक पदक की धातु का उपयोग किया गया था। जापान से बाहर जापानी कलाकृति के आधार पर

निर्मित यही एक घंटा संभवत विदेशो मे रखा गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ मे रखा यह घंटा आज भी विश्व शान्ति के प्रतीक के रूप मे अपनी आवाज से लाखों जनता को शान्ति एवं सद्भावना का पुनीत संदेश दे रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये घंटिया प्राचीन काल से लेकर आज तक संसार के विभिन्न देशो की जनता को अपनी आवाज से एक नूतन संदेश देती आ रही है। हाथियो मे आज भी उसके दोनों बगल मे वृजघंट लटकाया गया रहता है ताकि दूर से ही जनता को मालूम हो सके कि सर्व मंगलकारी गणेश जी के जीवित प्रतीक की सवारी आ रही है। युद्ध काल मे प्राचीन काल मे ये घंटे विजय के प्रतीकस्वरूप बजा करते थे। शताब्दियां गुजर गयी, संसार के अनेक देशो मे अनेक ऐश्वर्यशाली शासक एवं सम्राट पैदा हुए और पृथ्वी से चले भी गये लेकिन इन घंटियों के संदेशो मे किसी भी प्रकार का अन्तर न आया। ये आज भी उतनी नवीन हैं जितने प्राचीन काल मे रहे होंगे।



शख

हमारे मागलिक प्रतीको मे शख ही एक ऐसी वस्तु है जो मगल-कार्यों मे मगल की तथा सग्राम मे विजय-ध्वनि की प्रतीक है। शखनाद मे एक ऐसी विरल ध्वनि प्रस्फुटित होती है जो प्राणो को प्रकपित करती तथा हृद्तत्री के तारो को झकृत करती है। यह सर्वमान्य है और वैज्ञानिक प्रयोगो ने भी सिद्ध कर दिया है कि वाद्यो और ध्वनियो का हमारे शरीर और मन पर व्यापक प्रभाव पडता है। वाद्य और सगीत का सम्बन्ध भक्ति-भावना के साथ है जो हमारे हृदय मे आनन्द, उत्साह और आह्लाद का भाव पैदा करता है। जिस प्रकार वासुरी की कोमल, मनहर और सुमधुर ध्वनि अपने सम्मोहन के लिए प्रसिद्ध है, वीणा स्वत गान की, मृदग ताल का और डमरू रौद्र का प्रतीक है उसी प्रकार शख शौर्य, जागृति तथा मगल का प्रतीक है। इससे शरीर की रक्तवाहिनी धमनियो की क्रिया पर भी प्रभाव पडता है। तत्र शास्त्र के अनुसार शखनाद की ध्वनि-तरगो से कुडलिनी व रुद्रचक्रो पर प्रभाव पडता है और मानव-शरीर के अन्तर मे सुपुप्त-शक्ति जाग्रत होती है। शख मे एक ऐसी विशेष प्रकार की ध्वनि समाहित है जो स्वय मे एक अज्ञात-शक्ति है जिसका मात्र अनुभव ही हम कर सकते है। इसीलिए हमारे ऋषि-मुनियो ने इसके निनाद को सभी ध्वनियो मे श्रेष्ठ माना है और इसे आध्यात्म जीवन-जगत मे प्रतीक के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

शख पर अनेक रेखालय निर्मित होते है जो एक बिन्दु से प्रारम्भ

होकर निरन्तर बढते जाते है। ये सृष्टि के एक ही स्रोत से उत्पत्ति के प्रतीक हैं। शख की उत्पत्ति जल मे हुई है अत यह जल का भी प्रतीक माना जाता है जिसमे समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। इस तरह यह उस प्रारम्भिक और मूल ध्वनि का द्योतक है जिससे सृष्टि का विकास हुआ है। यह ब्रह्म मे 'अह' का भी प्रतीक है। इसका अन्तवलयित वक्र सूक्ष्म ब्रह्म या मनुष्य के अह का प्रतीक है जो ससार मे ले आता है या गमनागमन के काल-चक्र मे हमे डालता है।

सृष्टि के पालनकर्ता चतुर्भुज विष्णु भगवान के एक हाथ मे शख विद्यमान रहता है। विष्णु के हाथो की शोभा बढाने वाले शख का उपयोग मदिरो और पूजा-अर्चा के समय नियमित रूप से किया जाता है। बताया जाता है कि अमृत-मथन के समय क्षीर सागर से निकले चौदह रत्नो मे से एक शख भी है। शख मे उत्पन्न ध्वनि नादब्रह्म की प्रतीक है जो वास्तव मे परमतत्व परमात्मा का ही पर्याय है। शख मे जल लेकर भगवान की आरती करने का तथा उस जल से पवित्र होने का विधान माना गया है। शख के दो भेद है यथा एक वामावर्त और दूसरा दक्षिणावर्त। श्रीमद्भागवत के अनुसार प्रह्लाद के भ्राता सह्लाद की पत्नी कृतु के गर्भ से पाचजन्य नामक दैत्य ने जन्म लिया था जिसका वध हो जाने के उपरान्त उसी के अस्थि से पाचजन्य शख की उत्पत्ति हुई। पाचजन्य शख दक्षिणावत है जो अधिक मूल्यवान और सौभाग्य का प्रतीक भी माना जाता है। गीता मे इस बात का उल्लेख है कि महाभारत युद्ध के समय श्रीकृष्ण ने पाचजन्य, युधिष्ठिर ने अनन्त विजय, अर्जुन ने देवदत्त, भीमसेन ने पौण्ड्र नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक शख बजाये। इनके नाद मे दसो दिशाएँ गूज उठी और महाभारत युद्ध का प्रारभ हो गया। इस शख चिह्न का भगवान विष्णु के चरण-तल मे ध्यान किया जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण की एक कथा के मुताबिक चन्द्रचूड राक्षस की अस्थि मे अनेक प्रकार के शखो की उत्पत्ति हुई। बताया जाता है कि

विश्व का सबमे बडा शख केरल स्थित गुरवयूर के श्रीकृष्ण मदिर म है। इस शख की लम्बाई लगभग आधा मीटर और वजन २ किलोग्राम है। इसका मूल्य भी दो लाख रुपये आंका गया है। यद्यपि वडे आकार के कारण इसका प्रयोग दैनिक पूजा-कार्यो मे नही किया जाता लेकिन यह एक मागलिक दुलभ वस्तु के रूप म इस मदिर की शोभा बढा रहा है।

हम शख की पूजा भी करते है, देवताओ की पूजा अर्चा के समय शखनाद के द्वारा मगल ध्वनि करते ह। बगाल मे विवाह के अवसर पर शख ध्वनि अनिवाय मानी जाती है। बगाली महिलाएँ शख की चूडियाँ, शख की मालाएँ पहनती हैं और ज्योतिषी भी चन्द्रदोष दूर करने के लिए मोती उपलब्ध न होने पर उसके स्थान पर शख की अँगूठी पहनने का परामश देते ह। पूजा के समय शख से जल चढान की प्रथा हमारे यहाँ प्रचलित है।

इस तरह सभी मागलिक और शुभ कार्यो को समारभ और उन्ह विधिवत सपन्न करते समय शखध्वनि का प्रयाग किया जाता है। यह ध्वनि प्रणवनाद भी व्यक्त करती है। यही कारण है कि शख के बिना किसी देवालय, शुभ-काय तथा धार्मिक अनुष्ठान की परिकल्पना नही की जा सकती।



यज्ञोपवीत

संस्कार का तात्पर्य दुर्गुणों को दूर कर गुणवान व सुसंस्कृत बनना है। गुणों की महत्ता सामाजिक हितों को ध्यान में रख कर सम्पादित होती है। अतः भौतिक दृष्टि से संस्कारों का महत्व समाज-शिक्षा तथा सेवा से सबद्ध है और आध्यात्मिक दृष्टि से जीव, माया अथवा अविद्या की शक्तियों से आवृत्त रहता है। यज्ञोपवीत-संस्कार ज्ञान-दीक्षा द्वारा भौतिक व्यक्तित्व से ऊपर उठाने तथा अज्ञान के अंधकार से मुक्त करने की दिशा में अग्रसर होने का द्योतक है। हिन्दू धर्म की आश्रम-व्यवस्था के अनुसार उपनयन-संस्कार में यज्ञोपवीत प्राप्त होता है जो पहले ऊन, रेशम और सूत के होते थे। ब्रह्मचारी अथवा साधु-संतों को मूंज का यज्ञोपवीत धारण करते देखा जाता है। पौराणिक ग्रंथों के अनुसार आचार्य ब्रह्मचारी से कहता है, 'मैं तुझे दीर्घ आयु प्राप्त करने के लिए और बल व तेज प्राप्त करने के लिए यज्ञोपवीत बांधता हूँ।' यज्ञोपवीत का अर्थ यज्ञ के लिए वेद में बताये हुए कर्म में अधिकारी बनने के लिए। अर्थात् जो यज्ञोपवीत धारण करता है उसे वेदों के श्रवण, मनन व पठन का अधिकार होता है।

यज्ञोपवीत को ब्रह्म सूत्र भी कहते हैं। ब्रह्म का तात्पर्य वेद तथा सूत्र का आशय ज्ञान कराने वाला। अर्थात् इसे धारण करने वाला ब्रह्मचारी वेदाध्ययन में प्रवृत्त तथा यज्ञ करने का अधिकारी होकर ज्ञान प्राप्ति की

ओर प्रवृत्त होता है। अत वेद ज्ञान अथवा ईश्वर-ज्ञान या ईश्वर की प्राप्ति के लिए यह सूत्र धारण किया जाता है। उपवीत उस वस्त्र को कहते है जो कधो से पीठ पर होते हुए कमर तक धारण किया जाता है। अत यज्ञ-प्रदत्त प्रतीकात्मक वस्त्र यज्ञोपवीत कहा जाता है। इसे धारण किये बिना कोई यज्ञ नही कर सकता। इसी कारण आज भी समाज म सभी धार्मिक अनुष्ठान यज्ञोपवीत धारण कर ही किये जाते हैं। यज्ञोपवीत के तीन सूत्रो को तिगुना करके बटते ह। अत इसके नौ तार होते है। ये तार नौ देवताओ के स्थान माने गये है यथा—ओंकार, अग्नि, अनन्त, चन्द्रमा, पितृगण, प्रजापति, वायु, सूय एवं सर्प देवता। वेद मे भी हमारे शरीर जगत को नौ द्वारो वाली नगरी बताया गया है यथा—दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो वायु और उपस्थ। योग शास्त्र के अनुसार भी नौ द्वारो मे से सूरत की नव धारो को शुद्ध कर—नव द्वारो मे छुडा कर एक-एक को ऊँचे तल पर लाओ।

यज्ञोपवीत के तीनो तार ज्ञान, कम और उपासना के द्योतक ह जो मानव-जीवन मे धारण करने का सकेत देते हैं। इन तीनो को एकत्र कर लगायी गयी गाठ ब्रह्मग्रथि कहलाती है। जब हम ज्ञान, कम और उपासना को एक दूसरे के साथ सम्मिलित करेंगे तभी ब्रह्म गाठ अथवा ब्रह्म-प्राप्ति होगी। ज्ञान, कर्म और उपासना तीनो ही साथ-साथ साधिये तभी मानव-मुक्ति सभव है। इनमे से केवल एक की प्राप्ति मे सद्गति सभव नही।

उपवीत धारण करने के बाद व्यक्ति 'ॐ भूर्भुव स्व तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो योन प्रचोदयात्।' नामक सावित्री मन्त्र का जिसे सामान्य भाषा मे गायत्री मत्र भी कहते ह, पाठ करता है। इस मत्र का भी विशेष महत्व है और धार्मिक अनुष्ठानो मे इसका पाठ भी अनिवाय बताया गया है। प्रेम-बाधा दूर करने के लिए भी इसका पाठ

तिलक

तिलक भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट प्रतीक है। सम्पूर्ण भारत की धर्मप्राण जनता अपने मस्तक पर दोनों भौंहो के बीच के भाग मे जिसे त्रिकुटी कहते है, तिलक लगाती है। तिलक धारण कर ही प्राय समस्त धार्मिक अनुष्ठान किये जाते है। भारतीय शास्त्र, संस्कृति और परम्परा के अनुसार पुरुषो के लिए तिलक धारण करना उतना ही आवश्यक है जितना कि महिलाओ के लिए सौभाग्य चिह्न बिन्दी लगाना। पुरुष और स्त्री दोनो के लिए व्रत, पूजा, धार्मिक अनुष्ठान आदि शुभ अवसरो पर विशेष रूप से तिलक धारण करने का विधान आदिकाल मे हमारे सामाजिक जीवन का अंग-सा हो गया है।

वास्तव मे प्रत्येक बाह्य क्रिया हमारे आंतरिक विचारो की प्रतीक होती है। तिलक के स्वरूप और गुणो मे हमारे जीवनदर्शन तथा आध्यात्मिक संस्कारो की कुछ विशिष्ट बातें अंतर्निहित है। तिलक त्रिकुटी पर धारण किया जाता है जो इस बात का द्योतक है कि हम साधना की अवस्था मे पदार्पण कर गये है और अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे है। वैदिक परम्परा के अनुसार तिलक धारण करने की प्रथा शिव के तृतीय नेत्र—त्रिनेत्र—को प्रतिष्ठा देने के रूप मे प्रारम्भ की गयी। शैव मतावलम्बी आज भी त्रिपुंड और भौंहो के बीच बिन्दु का प्रयोग करते हैं। त्रिपुंड त्रिशक्ति और त्रिगुणादि का द्योतक है जिनमे तीन अग्नि, तीन लोक और तीन शक्ति (ज्ञान, इच्छा और क्रिया) सन्निहित है। त्रिपुण्ड

'प्रथम तिलक वसिन्ट मुनि कीन्हा, पुनि सब विप्रन्ह आयसु दीन्हा।'

इस प्रकार तिलक लगाने का हमारे सामाजिक जीवन में विशेष महत्व है जो अनादि काल से हमारे जन-जीवन के एक अंग के रूप में आज तक चला आ रहा है। शताब्दियाँ व्यतीत हो गयी, भारत भूमि पर अनेक आधारभूत परिवर्तन हुए, प्राचीन काल से लेकर अब तक अनेक ऐश्वर्यशाली सम्राटों का अभ्युदय और पतन हुआ लेकिन तिलक धारण की प्रथा अब भी अक्षुण्ण बनी हुई है।



मे तीनो रेखाओ का मिला रहना आवश्यक है। इसी प्रकार वैष्णव धर्म मे उर्ध्वमुण्ड धारण करते ह जिनकी दोनो रेखाएँ विष्णु के चरण चिह्न की प्रतीक है और बीच मे जो मणि धारण करते ह वह आत्मा की द्योतक है। शाक्त धर्मावलम्बी लाल रग का बिन्दु धारण करते ह जो शक्ति का द्योतक ह। शक्ति के उपासक आज भी लाल वस्त्र धारण करते ह।

इसी प्रकार भारत मे जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय हैं उतने प्रकार के तिलक धारण करने की उनमे प्रथा है। तिलक इस कारण भी धारण करते ह कि हमे समस्त उत्तरदायित्व शिरोधार्य है। साधु-सन्यासी अपने शरीर पर छापे भी लगाते है जिनमे ललाट, वक्षस्थल, भुजाएँ और दोनो कान के निचले भाग सम्मिलित ह। यह इस बात का द्योतक है कि हमारे समस्त शरीर पर परमपिता परमात्मा की अमिट छाप है और यह शरीर ब्रह्ममय है।

पुराने जमाने से राजतिलक देने की प्रथा हमारे समाज मे चली आ रही है जो उन लोगो के ललाट पर अकित किया जाता था जो सभी प्रकार मे राज-काज वहन करने मे सक्षम रहा करते थे। राजतिलक अक्सर गुरु दिया करता था। गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरित मानस' मे राम-विवाह के समय राम की शोभा तिलक से द्विगुणित हो रही थी यथा—

'सुन्दर भृकुटि मनोहर नासा, भाल तिलकु रुचिरता निवासा।'

रावण-वध के बाद विभीषण का राजतिलक किया गया—

'तुरत चले कपि सुनि प्रभु बचना, कीन्हीं जाइ तिलक की रचना।'
सादर सिंहासन बैठारी, तिलक सारि अस्तुति अनुसारी।'

अयोध्या पहुँचने पर श्री रामचन्द्र का भी तिलक किया गया और उन्होने राज-काज सँभाला। यथा—

'प्रथम तिलक बसिष्ट मुनि कीन्हा, पुनि सब विप्रन्ह आयसु दीन्हा।'

इस प्रकार तिलक लगाने का हमारे सामाजिक जीवन में विशेष महत्व है जो अनादि काल से हमारे जन-जीवन के एक अंग के रूप में आज तक चला आ रहा है। शताब्दियाँ व्यतीत हो गयीं, भारत भूमि पर अनेक आधारभूत परिवर्तन हुए, प्राचीन काल से लेकर अब तक अनेक ऐश्वर्यशाली सम्राटों का अभ्युदय और पतन हुआ लेकिन तिलक धारण की प्रथा अब भी अक्षुण्ण बनी हुई है।



चरण-स्पर्श

चरण-स्पश प्रथा हमारे देश मे अनादि काल से चली आ रही है। यह भारतीय जीवन-पद्धति, शिष्टाचार तथा आचार-व्यवहार की एक प्रमुख अग हो गयी है। गुरुजनो और अग्रजो का चरण-स्पश प्राचीन काल म एक सवव्यापी सामान्य शिष्टाचार था। ऋषि-गुरु जब राज-दरबार मे आते थे तब राजा और उसके समस्त दरबारी और परिवार के सदस्य उनके चरण-स्पश किया करते थे। गुरु की चरण-रज अत्यन्त श्रद्धा-सम्मान और भक्ति के साथ धारण की जाती थी और जल से उनके पद पखार कर परिवार जनो पर छिडका जाता था। रामभक्त हनुमान जब सबसे पहले राम से मिले तो उन्होंने गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरित मानस' के अनुसार ये शब्द व्यक्त किये

'प्रभु पहिचान गहउ कपि चरना।'

सूरदास ने ईश्वर की वन्दना 'चरण कमल बदनु हरि राई' कह कर की है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजा के अभाव म उसकी चरण पादुका को प्रतिष्ठित कर शासन का काम-भार उसके भक्तो ने सचालित किये ह। अयोध्या के राजा दशरथ की आज्ञा पर राम ने चौदह वष का वन-गमन किया था। भरत जब चित्रकूट मे राम को मना कर वापस

लाने में असफल हुए तो उन्हें और अयोध्यावासियों को राम की चरण-पादुका से ही सन्तोष करना पड़ा। यथा—

'प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही,
सादर भरत सीस धरि लीन्ही।'

अयोध्या लाकर भरत पादुका को प्रतिष्ठित करते हैं—

'मुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिनु साधि।
सिंहासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि।'

और पूजन भी—'नित पूजन प्रभु पावरी प्रीति न हृदय समाति।
माँगि-माँगि आयसु करत राजकाज बहु भाँति।'

राम के नदी पार करते समय केवट राम के चरण-पखारना चाहता था। इसीलिए उन्हें नौका पर बैठाने से पूर्व पैर प्रक्षालन का उसने आग्रह किया—

'रावरे दोस न पायन को—
प्रभु धूरि को भूरि प्रभाऊ महा है।'

रावण के दरबार में अगद ने जब पैर जमा दिया और रावण अंत में उठाने के लिए बढ़ा उस पर अगद ने कहा—

'मम पद गहे न तोर उबारा।'

तो यह व्यक्तियों की चरण-धूलि की कृपा है। उस समय ऐसे अवसर भी आये हैं जबकि बहिष्कृत करने के बाद भी लोग चरणों को स्पर्श करने के लिए आतुर होते थे यथा रावण द्वारा विभीषण को अपमानित किये जाने के बावजूद वह रावण का पैर पकड़ते ही रहे—,

'अस कहि कीन्हेसि चरण प्रहारा,
अनुज गहे पद बारहिं बारा।'

यहीं ऐसे भी दृष्टांत हैं जिसमें अपने बाल सखा के स्वागत में कृष्ण

के नेत्रो की जलधार से ही सुदामा के चरण धुल गये यथा—कवि नरोत्तम दास के शब्दों म—

'पानी परात को हाथ छुओ नहि
नेनन के जल सो पग धोए।'

बौद्ध काल म भी भगवान बुद्ध के चरणो की पूजा की अधिक प्रतिष्ठा थी जो भारत के साथ विश्व के उन सभी भागो मे प्रचलित हो गयी जहा बौद्ध धम और उनकी शिक्षाएँ पहुँची। भगवान बुद्ध अपनी पूजा की अपेक्षा धमपूजा श्रेयस्कर मानते थे और एक बार उन्होन वक्कपल नामक एक भिक्षु को फटकारा भी था जो उनकी शरीर-पूजा मे ही दिन-रात लगा रहता था। उन्होंने उमसे कहा था, 'जो धम का पालन करता है वही यथाथत मेरी पूजा करता है। उन्होंने अपने परिनिर्माण के समय भी धमपालन को ही श्रेष्ठ बताया था। लेकिन उनके निर्वाण के पश्चात् उनके भक्ता न उनके पदचिह्नो की पूजा का समारम्भ किया। उस समय बुद्ध-पूजा के लिए बोधिवृक्ष, त्रिरत्न, स्तूप, धमचक्र, चरण-चिह्न, अग्नि-स्तम्भ आदि प्रतीक थे। अमरावती, साँची, भरहुत, सारनाथ, कौशाम्बी, बुद्धगया आदि स्थानो मे हुए उत्खनन मे ऐसे ही पूजा के प्रतीक उपलब्ध हुए है। बौद्ध ग्रह महावश और दीपवश के अनुसार भगवान बुद्ध तीन बार श्रीलका गये। एक बार उन्होंने वहा के पर्वत शिखर पर अपना पदचिह्न बना दिया था जिसे आज तक विद्यमान माना जाता है। इसकी पूजा वहा बौद्धो के अतिरिक्त हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई समान रूप से करते ह यद्यपि सभी धर्मावलम्बियो की मान्यताएँ भिन्न है।

जैन धम मे भी पर-स्पश करना महत्वपूण माना गया है। इस धम के अनुसार पैर का अँगूठा स्पश करने मे रहस्य छिपा हुआ है। भगवान महावीर के प्रधान शिष्य श्री गौतम गणधर क लिए कहा गया है कि 'अँगूठे अमृत बसे लब्धि तणा भडार।' अँगूठे और उँगलियो से विद्युत–

तरों प्रवाहित होती रहती हैं। बड़ों की तपस्या, साधना और उनके पुण्य को हम केवल अँगूठे के स्पर्श मात्र से अर्जित कर लेते हैं।

श्रद्धा, सम्मान और अपनी मूक विनम्रता प्रकट करने वाले इस माध्यम को कालांतर में घूस-पट्टी के रूप में भी प्रयोग किया जाने लगा। मुगल काल में अफगान अमीरों की मदद से बहलोल लोदी भारत का शाहंशाह बना। सभी अमीरों को खुश करने के लिए वह न केवल अपनी पगड़ी उनके चरणों पर रख देता था वरन् अपनी नाक तक उनके चरणों पर स्पर्श कराता था। लेकिन उसके लड़के सिकन्दर लोदी ने इसका बदला लिया और अमीर लोग उसके चरणों पर नतमस्तक होने लगे। यही नहीं, सिकन्दर लोदी की पादुका (जूते) पालकी पर रख कर सूबों का दौरा करने लगी जहाँ सूबेदार दूर-दूर से आकर पादुका की अगवानी करते थे। सैयद भाइयों ने फारुखसियर का हटा कर कई शहजादों को भारत का शाहंशाह बनाया। वे कहा करते थे, 'हमारे जूतों की साया जिसके सिर पर पड़ जाय वह भारत का बादशाह बन जाय।' मराठों के समय में भी बाजीराव पेशवा के आगे होल्कर, सिंधिया, गायकवाड नतमस्तक होते थे और उसके चरण-स्पर्श कर अपनी स्वामिभक्ति बताते थे। आधुनिक काल में भी अपनी अपनी वफादारी और सम्मान प्रकट करने के लिए बड़ों के चरणों की सेवा करते लोग देखे जाते हैं।

इस तरह अनादि काल से लेकर आज तक चरण-स्पर्श और चरण सेवा का अपना पृथक महत्व रहा है यद्यपि उसकी मंशा में अवश्य ही समय-समय पर परिवर्तन आये हैं। पहले यह आदर, सम्मान, श्रद्धा का स्वरूप था लेकिन आज यह अपनी गोटी बैठाने का एक साधन भी हो गया है। फिर भी भारत की अधिकांश धर्मप्राण और आस्तिक जनता इसे अपने को कृतकृत्य होने का आज भी एक साधन ही समझती है और भविष्य में भी समझती रहेगी।



यज्ञ

यज्ञ हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक कृत्यो का एक प्रमुख अंग है। इसके माध्यम से मनुष्य सुख-समृद्धि, शान्ति, कल्याण और आनन्दमय जीवन व्यतीत करने की कामना करता आया है। यज्ञ से विविध कलाओं की उत्पत्ति होती है। यज्ञो मे जो मन्त्रोच्चार होता है उससे ब्रह्म विद्या की उत्पत्ति होती है। यज्ञो के सम्पादन से सूर्य-चन्द्रादि नक्षत्रो का निरीक्षण करते-करते ज्योतिष विद्या का उन्नतिशील विकास हुआ। वैदिक काल मे प्राचीन भारतीय आर्यो का यह एक प्रसिद्ध धार्मिक कृत्य माना गया था जो कुछ विशिष्ट उद्देश्यो की सिद्धि के लिए अथवा कुछ विशिष्ट उद्देश्यो की पूर्ति के लिए विशिष्ट अवसरो पर आयोजित किया जाता था। इसमे हवन मुख्य रूप मे होता था जिसमे मांगलिक प्रार्थनाएँ करके आशीर्वाद प्राप्त किया जाता था। आगे चल कर यज्ञ के अनेक स्वरूप हो गये जिनके साथ अनेक कर्मकाड सम्बद्ध किये गये।

भारतीय संस्कृति की प्रगति के प्रतीक यज्ञ कहे जा सकते हैं। भारत मे याज्ञिक प्रथा का विकास आर्यों की देन है। यज्ञ का आरम्भ वैदिक काल मे हुआ। ब्राह्मण युग मे यज्ञ खूब पनपे। इनमे यज्ञो की महिमा का गान भरा हुआ है। यज्ञो का विस्तार इस युग मे व्यापक रूप से हुआ। परोपकारार्थ किये हुए कार्यों का यज्ञ की संज्ञा दी गयी। पाणिनि ने यज्ञ का अर्थ देव-पूजा और दान बतलाया है। प्राचीन देवताओं की पूजा करना यज्ञ है। दो तत्वो के मिश्रण मे नये तत्व का निर्माण ही

संगतिकरण है। आदान-प्रदान की क्रियाएँ भी यज्ञ के अन्तर्गत आती हैं जिन्हें दान की संज्ञा दी जा सकती है। अग्नि में आहुति डालना यज्ञ का भौतिक अर्थ नहीं है, असुर प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना तथा दैवी शक्तियों में सम्पर्क स्थापित करना भी यज्ञ है।

वैदिक आर्यों की सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं में यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान रहा है, जो अपने पूर्वजों और दिव्यात्माओं के साथ आत्मिक सम्बन्ध स्थापित करता था। गीता में यज्ञ की बहुत ही सरल और स्पष्ट व्याख्या दी गयी है—यज्ञ अर्थात् ईश्वर प्राप्ति के लिए लोक कल्याण की भावना से किया हुआ कर्म। हमारी तमाम भावनाओं और व्यवहारों की ऐसी आयोजना करनी चाहिए कि जिससे केवल अपना ही नहीं, अपने साथ औरों का भी कल्याण हो। भारतीय संस्कृति का अर्थ है, समाज के एक-दूसरे के लिए कष्ट सहना, त्याग करना, एक-दूसरे का हित समझना और जीवन बनाना। यदि समाज, माग [illegible] सर्वस्व अर्पण करना पड़े तो कर दीजिये। यज्ञ देवताओं के लिए भी 'प्रथमानि धर्माणि' थे। पूर्व-वैदिक काल में प्रत्येक गृहस्थ के लिए प्रति-दिन यज्ञ करना आवश्यक समझा जाता था। इसके अतिरिक्त विशेष अवसरों तथा पर्वों पर भी यज्ञों का आयोजन होता था और इन [illegible] पर सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव मनाये जाते थे, [illegible] चलते थे। यज्ञ में पवित्र अग्नि को हवि देना अथवा [illegible] करना पड़ता था। यज्ञ के पीछे बलि की भावना [illegible] था। इसके सम्बन्ध में वैदिक ऋषि ने कहा है [illegible] होती है जब वह यज्ञ की भावना के साथ [illegible]।

वैदिक यज्ञों का आज इतना [illegible] शताब्दियों पहले समाज में यज्ञों [illegible] थे। बौद्ध धर्म के उदय [illegible] सम्मेलन होता था। [illegible]

साहित्यिक आधार से स्पष्ट होता है। ऐतिहासिक साक्षों से पता चलता है कि आज से ४ हजार वर्ष पूर्व उज्जैन से तीस मील दूर खुदाई करने पर पता चलता है कि प्राचीन उज्जयनी मे यज्ञ की परम्परा जोरो पर थी क्योंकि जगह-जगह यज्ञ कुड और हवन के पात्र मिले ह। खुदाई म हवन के लिए सामग्री भी मिली है।

यज्ञ चक्र को खीचन के लिए मन और वाक् (वाणी) की आवश्यकता हुआ करती है। यज्ञ-सस्कार के अन्तर्गत दो प्रकार की आहुतिया दी जाती हैं—(क) पूवधाराहुति (मन के लिये), (ख) उलट धाराहुति (वाणी के लिये)। मन जब किसी वस्तु का सकल्प करता है तब वाक् व्यापार द्वारा उसका प्रतिपादन करता है। मन और वाक् के बिना यज्ञ अथात् आध्यात्मिक कम का सम्पादन सम्भव नही है। दोनो आहुतियो की निष्पत्ति अग्नि और मोन द्वारा दी जाती है। यज्ञ की उत्पत्ति ॐकार से हुई। यज्ञ की पवित्रता का कारण अनिवाय कम कहा गया है। ऋग्वेद म कहा गया है कि यज्ञ से सब कुछ उत्पन्न हुआ है। कम की आत्मा यज्ञ है। यज्ञ रूपी नीव पर कम की इमारत खडी ह। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है, वषा यज्ञ से होती है, यज्ञ कम से उत्पन्न होता हे। कम की उत्पत्ति प्रकृति से होती हे। यज्ञ के बिना कम नही हो सकता है। कम के बिना मोक्ष नही।

विश्व म यज्ञ ही परम आराध्य वस्तु है। यज्ञ से सृष्टि हुई। यज्ञ का सकल्प ही ब्रह्म हे। ब्रह्म ही यज्ञ है। पितरो का आधार यज्ञ भी ब्रह्म है। यज्ञ का भोगक्ता भी ब्रह्म है। हवन की सामग्री हवि भी ब्रह्म है। ब्रह्म रूपी अग्नि आहुति कर्ता भी ब्रह्म है। देवताओ का पूजन भी यज्ञ है। इन्द्रियो का सयम भी यज्ञ है, जिसका होम आत्म सयम रूपी योगाग्नि मे किया जाता है। इन्द्रियो का सयोग तथा स्त्री-पुरुष का मिलन भी यज्ञ है, जिसमे सृष्टि की उत्पत्ति होती है। वैदिक साहित्य म अनेक प्रकार

के यज्ञों का उल्लेख मिलता है जैसे राजसूय यज्ञ, अश्वमेघ यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, अष्टाग योग, ज्ञान यज्ञ, पच महायज्ञ, सर्वमेघ, पितृमेघ, पुरुष मेघ आदि। प्राचीन काल मे मनीषियो ने यज्ञो के दो रूप कर दिये (क) स्मार्त यज्ञ (ख) श्रौत यज्ञ। श्रौत यज्ञों म पुरोहित की आवश्यकता होती है। पुरोहित का स्थान प्रमुख और गृहस्थ का स्थान गौण ह। यज्ञों मे गृहस्थ को प्राथमिकता दी गयी है। यज्ञो के अन्तगत विधाता, ऋषियो, पितरो, जीवो एव सम्पूण ब्रह्माण्ड के प्रति अपने कत्तव्यों का पालन है। श्रौत यज्ञ खर्चीले अधिक होते ह, इनमे स्वग, सम्पत्ति, पुत्र तथा राज्य की कामना होती है। नतिकता, आध्यात्मिकता, प्रगतिशीलता एव सदाशयता स्मृति यज्ञ की अपेक्षा कम मिलता है। पच महायज्ञ, ज्ञान यज्ञ, द्रव्य यज्ञ आदि ऐसे यज्ञ है, जिन्हे मामूली गृहस्थ भी अग्नि म बिना आहुति डाले सम्पन्न कर सकता है।

आहुतियां देत समय प्रत्येक हवन करने वालो को निम्न बातो का ध्यान रखना चाहिये। (१) मध्यमा और अनामिका उँगलियो पर सामग्री ली जाय और अगूठे का सहारा लेकर उसे अग्नि मे छोडा जाय। (२) सब लोग पालथी मार कर सीधे बैठें। (३) आहुतियां झुक कर डालें, इस तरह न फेंके कि आधी अग्नि मे गिरे आधी बाहर। (४) सब लोग समान स्वर मे साथ-साथ मन्त्र जाप करें। कोई ऊँची-नीची आवाज न रक्खे और न आगे पीछे बोले, सबकी सम्मिलित आवाज ऐसी प्रतीत हो मानो एक ही व्यक्ति बोल रहा हो। (५) जब 'स्वाहा' शब्द बोला जाय तभी सब लोग एक साथ आहुतियां डाल। इसम भी हाथो का आगा-पीछा न होना चाहिय। (६) हवन कुण्डकी अग्नि के सम्बन्ध म तथा दीपक आरती आदि के समय आवश्यक सावधानी न रखने से कभी-कभी आग दूसरी वस्तुओ को पकड लेती है और कुछ चीज जल जाती है। (७) दव का प्रसाद युग निमाण परिवार मे पचामृत है। गाय का दूध, दही, घी,

शक्कर, तुलसी पत्र इन पाचो को मिलाने से पचामृत बनता है। यह प्रसाद सम्ना पडता है, गौर गरिमा का स्मरण दिलाता है और सतोगुणी प्रभाव से युक्त है। हर धनी निर्धन सुग्नतापूर्वक इसकी व्यवस्था कर सकता है। (८) मन्त्र पुस्तकें पयाप्त मात्रा मे हो। जो शुद्ध उच्चारण कर सकते हो उन्हे पुस्तकें दी जायें। सारे मन्त्र मिल-जुल कर बोले जाया करें। एक स्वर में—एक साथ बोलने की हिदायत आरम्भ मे ही कर दी जाय। प्रधान मन्त्रोच्चारकर्ता के साथ-साथ सबका स्वर चले।

इस प्रकार यज्ञ सच्ची भावना एव श्रद्धा के साथ किया जाय तो मनोकामना की पूर्णता के लिए देवताओं और मनुष्यो की एकात्मता ही उससे सम्पन्न नही होती वरन् सृष्टि की अक्षुण्णता बनाये रखने के लिए भी यह जरूरी है। जीवन की पवित्रता और उन्नति के लिए यज्ञ करना ही होगा। पवित्रता मानो चिर यज्ञ ही है, और यही आत्मविकास की सीढी है। सवस्व अर्पण—त्याग ही तो निर्वाण और मोक्ष है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में, जो विश्व साहित्य म सर्वाधिक सुन्दर तथा भव्य मन्त्र है, ऋषि ने विस्तार मे वर्णन किया है कि—स्वय पुरुष ने किस प्रकार अपनी बलि दी, वह ब्रह्म 'पृथ्वी' के सभी ओर सभी दिशाओं मे व्याप्त था, जो कुछ हुआ है और होगा वह सब वही था और अपने भव्य सौंदय मे सभी भूतो से परे, अमृतत्व का स्वामी था।

धर्म ग्रथों मे उल्लेख किया गया है कि देवताओ के गुरु बृहस्पति ने देवताओं और मनुष्यो के कल्याण के लिए स्वय की बलि दी थी और वही है यज्ञ की पराकाष्ठा। हमारे ऋषियो ने सृष्टि के रहस्य और जीवन के धर्म को यज्ञ के रूप मे समझाने के प्रयत्न किये हैं। इस दृष्टि से बलि की इस महान भावना का सृष्टि मे आदिस्रोत के रूप मे महत्व माना गया है और यह समस्त सृष्टि का सृजन, श्रद्धा व त्याग की सच्ची भावना



शक्ति

प्राचीन काल से हमारे देश में शक्ति की उपासना होती आ रही है। उपनिषदों में जिसे ब्रह्म कहा गया है वह शक्ति का ही अभिन्न रूप है। सृष्टि के सृजन में नारी का मुख्य स्थान होने के कारण शक्ति के रूप में उसकी पूजा का विधान हमारे प्राचीन मनीषियों ने रखा। द्रविड़ संस्कृति में शक्ति पूजा के अनेक चिह्न उपलब्ध हैं। वैदिक युग में मातृ पूजा का उल्लेख आया है। वेद में अदिति को अनन्त अखंड शक्ति, देवों की जननी तथा विश्व माता के रूप में सम्बोधित किया गया है। उसमें कहा गया है 'अदिति ज्योति है, स्वर्ग है, अन्तरिक्ष है, माता है, पिता है, पुत्र है और समस्त देवता है। वही पाँच प्रकार की उत्पत्ति है जो सबकी उत्पत्ति है।' अदिति स्वतः प्रकाशित अनन्त शक्ति की चेतना है, परम ज्योति है और सत्य पथ को निर्धारित करने वाली है।

संहिता ग्रंथों में शक्ति के रहस्य का वर्णन है। देवी-सूक्त, शक्ति-सूक्त और सरस्वती सूक्त में भी शक्ति का स्तवन है। ऋग्वेद की ऋचाओं में शक्ति के दो स्वरूप प्रदर्शित किये गये हैं जो दिव्य-माता, महाशक्ति का स्वरूप तथा आन्तरिक सुख-समृद्धि प्रदायक है। शौर्य एवं सहिष्णुता के बिना शक्ति के अस्तित्व से पुरुष की अपेक्षा नारी मूर्ति अधिक उपयुक्त थी। इसीलिए शक्ति की आराधना भारतीय परम्परा में देवी रूप में की गयी। शक्ति रूपी देवी की उत्पत्ति का इतिहास शक्ति की अनूठी कहानी है। विष्णु के कर्णमलोद्भूत दानव मधुकैटभ की आसुरी शक्ति से त्रस्त होकर

समग्र दैत्य के वध का उपाय सोचने लगी। एकाएक उन विचारकों के माध्यम से एक अत्यन्त ज्योतिमयी शक्ति निगत होकर एक स्थान पर पूजीभूत हो गयी। इस पुंजीभूत प्रकाश ने धीरे-धीरे आकार धारण किया है वह आकार एक दिव्य नारी की मूर्ति बना। दुर्गा की उत्पत्ति का इतिहास वराह पुराण मे यही लिखा है।

ऋग्वेद के मत्रो मे शक्ति के दो रूप दिखायी देते है जो दिव्य माता है, वह महाशक्ति का एक रूप है और जो साधक मे सद्गुणो का विकास कर आनन्द सुख एव समृद्धि प्रदान करती है दूसरा रूप। यह दूसरा रूप, आसुरी प्रवृत्ति का नाश करता है, हमारे यहाँ इन दोनो रूपो की मान्यता वेदकाल से चली आयी है। इस दृष्टि से, एक मान्यता आध्यात्मिक प्राप्ति के लिए है और दूसरी भौतिक सुख-समृद्धि के लिए है। वेद मे अदिति के अतिरिक्त अन्य देवियो का भी उल्लेख है, जिसमे इला, मही और सरस्वती की चर्चा है। इला, सरस्वती और मही देवियाँ सुख उत्पन्न करने वाली है। 'आओ, और यज्ञ के आसन पर प्रतिष्ठित होओ।'

परम चेतना की जो पाँच शक्तियाँ है उनमे मही विशाल वाणी है, जो दिव्य स्रोतो से सभी वस्तुएँ लाती है। इला अदिवाणी है, उसको सक्रिय रूप देकर मार्ग बतलाती है। सरस्वती सत्य की बहती धारा है और उसकी अत प्रेरणा की वाणी है। सरमा अतदर्शन की देवी है, जो हमारी अवचेतना मे उतर आती है और उसमे छिपी हुई शक्ति को जागृत करती है। पाचवी शक्ति दक्षिणा का कार्य विवेचना, क्रिया और विनियोग करने का है।

उपनिषद मे महाशक्ति का उल्लेख ब्रह्म अर्थात् आत्मज्ञान देने वाली देवी के रूप मे मिलता है, किन्तु पौराणिक युग मे शक्ति पूजा का विकास पूर्ण होता है, प्रत्येक शक्ति की अलग मूर्ति और मंदिर बनवाये गये। उसके सम्प्रदाय खडे हुए और पूजा के लिए स्वतन्त्र विधान बताने वाले पुराण आगम और तत्र रचे गये।

शक्ति में शौर्य एवं शान्ति का समावेश भी अपरिहार्य है। शान्त-भावना के प्रतीक भगवान शिव है, अत शक्ति को शिवा नाम से सबोधित किया गया है। ग्रीक साहित्य में पुरुष को अधिकाशत दुर्दाम ही कहा गया है और नारी को परम सहिष्णु माना है। पुरुष के अत्याचार के कारण विषाद एव वेदना का भोग नारी को करना पडता है। होमर के इलियड म वर्णित देवियाँ इसी प्रकार व्यथिता एव दलिता है। उनमे सामर्थ्य का अभाव-सा है। किन्तु भारतीय देवी इसी स्थान पर एथनी अथवा मिनर्वा से भिन्न हो जाती है। दानवी शक्ति जब पुरुष द्वारा विश्व शान्ति को आघात पहुँचाती है, तो भारतीय देवी ममत्व एव स्नेह से निकल कर उस आसुरी शक्ति के विनाश मे प्रवृत्त होती है।

शक्ति को ही परम देवता महाशक्ति मानने वालो का एक वर्ग हुआ। उसको शक्ति-सम्प्रदाय कहते है। इस सम्प्रदाय के साहित्य म अनेक देवियो का परिचय और श्रेणियाँ मिलती ह। अठारह पुराणो मे, मार्कण्डेय पुराण और देवी भागवत मे शक्ति का निरूपण विशेष रूप से किया गया है। उसको एकमेव बन कर तीनो लोक मे व्याप्त होने वाला नारी रूप धारण करके, कितने ही देवी के शरीर मे से प्रकट हुआ 'तेज' कहा गया है। इस त्रिलोक सौभाग्य रूप की सूत्रधारिणी के अनेक नाम है। विविध रूप है। फिर भी वह एक ही सच्चिदारूपा भगवती है। उनमे मुख्य चार नाम है—माहेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महा सरस्वती। ये उनकी मुख्य शक्तिया और विग्रहा म म चार है। माहेश्वरी—एकमेव परमेश्वर का अश है। विश्व की किसी भी वस्तु मे—वह नही है। समस्त उनके अन्दर है। इससे परे कुछ नही है। उनकी दृष्टि म सर्व समान है। महा-काली—रुद्र और रम्य सहारक और उद्धारक है। उनका स्नेह जैसा तीव्र वैसा ही उनका रोष और उनकी करुणा भी वैसा ही गम्भीर है। महा-लक्ष्मी—शाश्वत सौन्दय, रमणीयत्व और ऐश्वर्य उनकी शक्ति के केन्द्र है। महासरस्वती—समस्त विद्या, कला और कौशल उनके साम्राज्य मे है।

शक्ति की उपासना अपना एक महत्व रखती है। जिसे आज के भौतिक ससार मे अनन्त रूपो मे देखा जाता है, वह एक ही है। एक इस विश्व मे विविध रूपो मे परम सत्य की प्रतीकात्मक शक्तियो के माध्यम से, जीवन की महत्तम शक्ति को हम प्राप्त करें, इसीलिए शक्ति की उपासना की प्राचीन परम्परा रही है। 'वाराह पुराण' मे देवी के नौ रूपो का उल्लेख है, जिसमे प्रत्येक रूप एक विशेष आदर्श का द्योतक है। सभी मे विश्व के श्रेय की भावना निहित है। काव्य का ध्येय श्रेय है, इस तथ्य से भारतीय कलाकार हमेशा सचेत रहा है।

शक्ति को त्रिमाता, त्रिशक्ति आदि कह कर उसमे मातृ, जाया एव दुहिता का समुज्ज्वल रूप आरोपित किया गया है। भारतीय शक्ति की अनूठी भावना का चित्र विश्व-साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ है। भावना का इतना प्राजल एव श्रेयस्कर रूप स्वयमेव व्यक्ति एव समाज को एक नवीन चेतना देकर सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है और व्यक्ति मे विश्व कल्याण की भावना का उन्मेष स्वत होने लगता है।



लक्ष्मी

भारतीय जन-जीवन मे लक्ष्मी का विशिष्ट स्थान है। धन-वैभव तथा ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी के सम्बन्ध मे हमारे प्राचीन साहित्य मे पर्याप्त उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद मे 'लक्ष्मी' कल्याण या मगल के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। परवर्ती वैदिक साहित्य मे 'श्री' और लक्ष्मी नाम साथ-साथ मिलते है। 'श्रीसूक्त' मे इन दोनो को एक ही देवी माना गया है और उसे पद्मस्थिता कहा गया है। इसके बाद कमल के साथ लक्ष्मी इतनी प्रिय देवी हो गयी कि उन्हे 'पद्मा', कमलालया, पद्मवसा, पद्महस्ता आदि विविध नामो से सम्बोधित किया है। हमारी प्राचीन मूर्तियो मे लक्ष्मी को कमलवन के मध्य मे अथवा पद्मपुष्प के ऊपर खडी हुई या हाथ मे कमल धारण किये हुए चित्रित किया गया है। विष्णु की बहु-सख्यक मूर्तियो मे एक ओर लक्ष्मी तथा दूसरी ओर इसी भू-देवी की प्रतिमा मिलती है। महाभारत, रामायण, पुराण, ग्रन्थ तथा बाद मे साहित्य मे लक्ष्मी का स्थान प्रमुख हो गया और विष्णु पत्नी के रूप मे उनका वर्णन विस्तार से मिलता है। बौद्ध और जैन साहित्य मे भी लक्ष्मी के उल्लेख अधिक मिलते है।

पौराणिक आख्यानो के अनुसार लक्ष्मी क्षीरसागर के मथन मे आविर्भूत चौदह दिव्य रत्नो मे से एक हैं। इस देवी को ब्रह्मा ने विष्णु को प्रदान किया तथा विष्णु ने इसे पत्नी के रूप मे अगीकार किया तब से वह देवी विष्णु के साथ ही क्षीरसागर मे निवास करती हैं। विभिन्न गुणो

के आधार पर इनके विभिन्न नाम हैं। विष्णु की प्रिया होने के कारण वह 'हरि प्रिया', कमल पर निवास के कारण वह 'कमलासना' या 'पद्मा', सिंधु से उत्पन्न होने से 'सिंधुजा', स्वभाव से चपला होने के कारण चचला तथा शोभा की अधिष्ठात्री होने के कारण 'श्री' कहलाती हैं। विष्णु पुराण मे विष्णु के साथ लक्ष्मी के स्वरूप एव महात्म्य का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु जगत्पिता है और लक्ष्मी जगत्माता। विष्णु अर्थ हैं, लक्ष्मी वाणी, विष्णु धर्म है तो ये सत्क्रिया। सक्षेप म जो पुरुष वाचक है वह विष्णु है तथा स्त्रीवाचक है वह लक्ष्मी है—इनसे परे कुछ नही है। लक्ष्मी नारायण की युगल मूर्ति की इस व्याख्या में लक्ष्मी को विष्णु के समकक्ष महत्व मिला है। भृगु ऋषि के शापवश जब-जब विष्णु ने अवतार धारण किया तब-तब लक्ष्मी भी उनके साथ अवतीर्ण हुई है। विष्णु के आदित्य रूप के साथ वह पद्म मे उत्पन्न होकर उसी मे प्रतिष्ठित हुई। वे परशुराम हुए तो ये पृथ्वी बनी। राम रूप के साथ सीता और कृष्ण रूप के साथ रुक्मिणी के रूप में अवतीर्ण हुई। विष्णु से लक्ष्मी कभी पृथक नही होती।

भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला मे लक्ष्मी का चित्रण बहुत प्राचीन काल से मिलता है। साची और भरहुत की बौद्ध कला मे पद्म-स्थिता लक्ष्मी की अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ उपलब्ध है। कही पर लक्ष्मी को पुष्पित कमल वन के मध्य अवस्थित दिखाया गया है और कही उन्हे त्रिभगी भाव मे लाला-कमल हाथ मे ग्रहण किए हुए प्रदर्शित किया गया है। बैठी या खडी हुई लक्ष्मी के अगल-बगल सूड मे मगलघट लिये हुए हाथी अत्यन्त कलात्मक ढग मे साँची, मथुरा, अमरावती आदि की कला मे अकित हैं। भारत के बाहर श्रीलका, इन्डो-चीन, इन्डोनेशिया, नेपाल, तिब्बत तथा मध्य एशिया मे भी लक्ष्मी की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। विष्णु के साथ सम्बन्धित होने के कारण लक्ष्मी का स्थान बहुत श्रद्धास्पद हो गया। लक्ष्मी को विष्णु के साथ विविध रूपो मे प्राचीन कला ने चित्रित

किया गया है। कभी-कभी उन्हें कुबेर के साथ भी दिखाया गया है और कभी सप्त मातृकाओं के अन्तर्गत। महाभारत के अनुशासन-पर्व में युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया कि लक्ष्मी कहाँ रहती है? तब भीष्म ने 'लक्ष्मी-रुक्मिणी संवाद' द्वारा स्पष्ट किया कि लक्ष्मी दक्ष, जितेन्द्रिय, आस्तिक, कृतज्ञ, शान्त और सदाचारी लोगों को अपना प्रिय मानती हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि अपने लौकिक रूप में वह 'चंचला' मानी गयी है। रहीम ने इसी आधार पर यह कहा है—

> 'कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय,
> पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय।'

लक्ष्मी को प्रमुख भारतीय देवी के रूप में मान्यता होने से उनकी पूजा के अनेक विधान हैं। जैन कल्प सूत्र में लक्ष्मी का अभिषेक विस्तार से वर्णित है। उन्हें हिमालय के सरोवर में कमल-वासिनी कहा गया है और दिग्गजों द्वारा जल से लक्ष्मी का अभिषेक करने की चर्चा है। भू-देवी के रूप में लक्ष्मी का गजाभिषेक इस बात का प्रतीक है कि मेघ-देवता इन्द्र जलवृष्टि करके भूमि को उर्वरा बनाते हैं। पुराणों में इसी को सौभाग्य और समृद्धि की देवी के रूप में माना गया है और अनेक स्थलों पर धन और सुख की प्राप्ति के लिए उनकी पूजा एवं अभिषेक की चर्चा है।

अनेक प्राचीन भारतीय राजवंशों तथा गणराज्यों के सिक्कों पर लक्ष्मी की प्रतिमा मिलती है। गुप्तवंश के राजाओं की मुद्राओं तथा मथुरा के प्राचीन शासकों के सिक्कों पर विविध आकर्षक भावों में लक्ष्मी का चित्रण है। गुप्त शासक परम वैष्णव थे। उन्होंने अपने सिक्कों पर प्रायः लक्ष्मी को ही अंकित कराया। मध्यकाल में लक्ष्मी की लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी कि इस समय के प्राप्त सिक्कों पर लक्ष्मी का चित्रण रूढ़िगत हो गया। कलचुरि, गहरवार आदि भारतीय राजाओं ने ही नहीं, विदेशी शासकों ने भी अपने सिक्कों पर लक्ष्मी को स्थान देकर गौरव का अनुभव

किया। विदेशी मुद्राओं पर यह परम्परा ईसा पूर्व दूसरी शती से मिलती है। उत्तर-पश्चिम भारत में शासन करने वाले हिन्दू-यूनानी एवं शक राजाओं के कतिपय सिक्कों पर तथा मथुरा के क्षत्रप राजाओं के सिक्कों पर भी लक्ष्मी देवी का चित्र मिलता है। कुषाण मुद्राओं पर अंकित देवी अर्दोक्षो भारतीय लक्ष्मी का ही प्रतिरूप है। शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा राजकीय मुहरों पर भी लक्ष्मी के कलापूर्ण अंकन मिले हैं। यह लक्ष्मी के व्यापक प्रभाव तथा लोकप्रियता का द्योतक है। दुःख निवारिणी देवी के रूप में दक्षिण भारत में दीप-लक्ष्मी की विविध कलात्मक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये प्रायः धातु, हाथी दांत या लकड़ी की निर्मित होती हैं। दीप को कभी देवी के हाथों में तो कभी सिर के ऊपर दिखाया जाता है। दीप लक्ष्मी की मूर्तियाँ आज भी लोककला में पूजी जाती हैं।

इस प्रकार सुख-समृद्धि, संपत्ति एवं वैभव की अधिष्ठात्री लक्ष्मी की पूजा भी प्रतीकवाद का अनुपम उदाहरण है। लक्ष्मी को चंचला कहा गया है। वह एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती। बाण भट्ट की 'कादम्बरी' में राजकुमार, चन्द्रपीड से शुकनास ने इस सम्बन्ध में कहा है—'लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर उसे रखना और भी कठिन है। लक्ष्मी कुल की मान नहीं रखती। वह पाण्डित्य व त्याग की मर्यादा भी नहीं रखती। गुणवान साहसी, सज्जन वीर, मनस्वी को भी त्याज्य पदार्थों की भाँति छोड़ देती है।' इसका तात्पर्य यही है कि जब लक्ष्मी का आगमन होता है तो उसकी चकाचौंध में बड़े-बड़े शूरवीर, पंडित, ज्ञानी तक भी भ्रमित होकर दुष्प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख हो जाते हैं। तब लक्ष्मी उनको छोड़ कर दूसरों के पास चली जाती है। कार्तिक मास की अमावस्या की घोर अन्धकारमयी निशा में इस 'उल्लूक वाहिनी' की भक्तिभाव से दीप-मालिका से सर्वत्र अगवानी की जाती है—धन धान्य, स्वर्ण-रत्न, भवन-

वाहनादि की समृद्धि की कामना के साथ उनका भव्य पूजन किया जाता है। गुण-राशि को नष्ट करने वाली दरिद्रता को भगाने के लिए कंचन-मयी लक्ष्मी के वरदान की प्रार्थना इस मंगलमय घड़ी में सभी घरों में की जाती है चाहे वह निर्धन हो या धनी। आइये हम भी सुख-समृद्धि तथा ऐश्वय की इस अधिष्ठात्री की आराधना करें।



श्री

भारतीय जन-जीवन मे प्राय सभी मागलिक कार्यो मे 'श्री' का प्रयोग अत्यत प्राचीन काल से होता आया है। धार्मिक क्षेत्र म कोई भी पूजा-पाठ या अन्य काय प्रारभ करने से पूर्व 'श्री' का उच्चारण अवश्य किया जाता है अथवा इसे लिपिबद्ध किया जाता है। समाज म 'श्री' का प्रयोग सम्मान-सूचक शब्द के रूप मे प्रयोग मे लाया जाता है। व्यवहार मे किसी वस्तु के सौदय को व्यक्त करने के लिए 'श्री' का व्यवहार किया जाता है। सुरुचि और सजावट के रूप मे भी 'श्री' का प्रयोग पाया जाता है।

'श्री' का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद मे 'श्री सूक्त' के रूप म मिलता है। वेद मे "श्री' का प्रयोग सर्वत्र सौंदय के प्रतीक के रूप मे हुआ है। अथर्ववेद मे पृथ्वी के अर्थ मे 'श्री' का प्रयोग अधिक हुआ है। मातृभूमि के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति करने के लिए 'श्री' का उच्चारण एव लेखन होने का इन ऋचाओ मे सकेत है। ऋग्वेद मे 'श्री' और 'लक्ष्मी' को एक ही अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद मे 'श्री' का अन्न, जल, गोरस एव वस्त्र जैसी समृद्धियाँ प्रदान करने वाली आद्य शक्ति के रूप मे उल्लेख है। गृह कार्यो म उसे उत्पादन की उर्वर शक्ति माना गया है। यजुर्वेद मे 'श्री' और 'लक्ष्मी' को विष्णु भगवान की दो पत्नियाँ कहा गया है—'श्रीश्चते लक्ष्मीश्चते सपत्न्यौ।' श्री सूक्त मे भी दोनो को भिन्न मानते हुए अभिन्न उद्देश्य पूरा कर सकने वाली बताया

गया है—'श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इस निरूपण मे ही 'श्री' को तेजस्विता और 'लक्ष्मी' को सपदा के अर्थ मे लिया गया है।

उपनिषद और गृह्यसूत्रो मे भी 'श्री' का उल्लेख मिलता है। वहा वस्त्र, गौ, खाद्य एव पेय की दात्री को 'श्री' कहा गया है। इस प्रकार 'श्री' का कल्याणमय अर्थ लक्ष्मी की भावना के बहुत समीप है। नारायणोपनिषद् 'श्री' को लक्ष्मी का सर्वप्रथम नाम मानता है। आचार्य श्री यामुन के कथनानुसार—श्री रित्येव च नाम ते भगवति'—हे भगवती, तुम्हारा नाम 'श्री' है। इस तरह उन्होंने वरदवल्लभा लक्ष्मी को 'श्री' नाम से सबोधित किया है।

शतपथ ब्राह्मण की एक गाथा मे 'श्री' को प्रजापति के अतस् से उत्पन्न होना बताया है। प्रजापति उसका अभिनदन करते हैं और बदले मे उस आद्य देवी से सृजन क्षमता का वरदान प्राप्त करते हैं। शतपथ ब्राह्मण मे ही 'श्री' की फल श्रुति की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जिन दिव्यात्माओ मे निवास करती है वे ज्योतिमय हो जाते है। आरण्यको मे 'श्री' को सोम की प्रतिक्रिया अर्थात् आनदातिरेक कहा गया है। ब्राह्मण ग्रथो मे इसकी चर्चा शोभा-सुन्दरता के रूप मे हुई है। श्री सूक्त मे इस महाशक्ति की जितनी विशेषताएँ बतलाई गई है उनमे सुन्दरता सर्वोपरि है।

लक्ष्मीवाचक 'श्री' शब्द के छ प्रकार है। शृणोति, श्रावयति, श्रणाति, श्रीयते और श्रयते। श्रीणोति और श्रावयति 'श्री शब्द' वाच्यार्थ से उसका यही अर्थ निकलता है कि, वह अपने आश्रित जनो—उपासको के, आर्तनाद को श्रवण करता है और श्रवण करने के पश्चात् भगवान को श्रवण कराता है। शेष चारो शब्दो का तात्पर्य इस प्रकार है—'शृणाति' अर्थात्, लक्ष्मी—आश्रित जनो के—समस्त दोषो को निवारण करती है। 'श्रीणाति' अपने गुणो से ससार को शोभित करती है और अपने आराधको की मनोकामना पूर्ण करती है।

'श्रीयते' समस्त चिदात्मक विश्व के द्वारा सदा उनका आश्रय ग्रहण किया जाता है और 'श्रयते' अर्थात् (सबके कल्याण के लिए) परम पद्म-धारिणी भगवान की सहधर्मिणी बनती है।

'श्री' का अर्थ शोभा या कांति भी होता है। लक्ष्मी की कल्पना एक रूप-यौवन सपन्न युवती के रूप मे की गई है, जिसके वक्ष कुभ के समान उन्नत और पुष्ट और उदर उघड़ा हुआ बताया जाता है। लक्ष्मी जी जिन चित्रो मे भगवान विष्णु के साथ होती हैं, उनके दो ही हाथ बताए जाते है, लेकिन अकेले वह चतुर्भुज होती है। अष्टदल कमल उनका आसन है। उनके एक हाथ मे कमल, एक हाथ मे अमृतघट, एक हाथ म नारियल और एक हाथ मे शख होता है। कभी-कभी दोनो हाथों मे कमल भी होता है।

इस तरह 'श्री' का उल्लेख व्यक्तित्व को निखारने, आतरिक सौदर्य और व्यावहारिक, तेजस्व लाने, तथा भौतिक सुख-समृद्धि के प्रति प्रयत्नशील रहने के रूप मे किया गया है। भौतिक और आत्मिक प्रगति तथा उन्नति के समुचित सतुलन-समन्वय मे ही व्यक्तित्व का विकास सभव है। प्रत्येक व्यक्ति के नाम से पूर्व 'श्री' शब्द के लगाने मे इसी सद्भावना और शुभकामना की अभिव्यक्ति होती है। सहस्र नामो मे भी लक्ष्मी का उल्लेख मूल प्रकृति, प्रधाना, अव्यक्ता आदि नामो मे किया गया है। प्राचीन ग्रथो मे जहाँ भी लक्ष्मी की स्तुति, आराधना की गयी है वहाँ 'श्री' को चेतन रूप मे सबोधित किया गया है। हमारे शास्त्रो मे भी जहाँ कहीं भी 'श्री' तत्व का वर्णन है वहाँ 'श्री' तत्व को भगवान की आदि सत्ता, प्रभा, इच्छा, विद्या, शक्ति, धर्म, गुण, आदि के रूप मे उल्लेख है। इस तरह 'श्री' ब्रह्म के समान ही सर्वशक्ति-सपन्न और सर्वव्यापी है।



ओऽम्

हमारी संस्कृति में 'ओऽम्' को विशेष महत्व दिया जाता है। भारतीय जीवन, विचार और ज्ञान का आधार 'ओऽम्' है। इसी में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व विलय निहित है। इसके उच्चारण मात्र से सूक्ष्म किन्तु शक्तिशाली तरगों की उत्पत्ति होती है। यह एक ऐसी मौलिक ध्वनि है जिसकी अन्य सब ध्वनियाँ अभिव्यक्ति है। यह स्वयभू आदि शब्द है तथा प्रकृति का मूलमत्र है। पातजलि ने अपने 'योगसूत्र' मे ओंकार को 'ईश्वरवाचक' कहा है और बताया है कि इसके जप तथा ईश्वर के ध्यान से 'समाधि' की प्राप्ति होती है। ओकार ब्रह्माड मे व्याप्त शक्ति का प्रतीक है। प्राण, बुद्धि और विवेक का यह प्रेरक है। यह मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने वाला आकर्षक और दैविक मत्र है। उपनिषद-कारो ने भी कहा है कि जिन्हे मृत्यु से बचना है उन्हे ओंकार की उपासना करनी चाहिए।

'ओऽम्' के निर्माण मे तीन वर्ण है—अ+उ+म। इनमे प्रथम दो स्वर तीसरा अनुस्वार है। अ=विराट जो कि विभिन्न प्रकार से जगत को प्रकाशित करता है। उ=हिरण्यगर्भ, सूर्य, चन्द्र और प्रकाशन जिनके गर्भ मे है। म=ईश, प्राज्ञ, आदित्य, आनन्द। इस प्रकार 'ओऽम्' की प्रत्येक मात्रा का एक अर्थ है, एक रहस्य है। ओंकार की विद्या ही अक्षर विद्या है। अक्षर अर्थात् अविनाशी और अविनाश का भाव है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है—'ओऽम् तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधि

स्मृत (१७, २३, २४)।' इस प्रकार 'ओम्' तत् सत् ब्रह्म का तिहरा निर्देश है। इन तीनो रूपो मे परमात्मा-सृष्टि मे व्याप्त है। विराट ब्रह्माण्ड को इस दृष्टि से देखें तो, समस्त ब्रह्माण्ड इन तीनो वर्णो मे विभक्त है। अत 'ओम्' के उच्चारण से इन तीनो का आवाहन होता है। उससे किसी भी लौकिक अथ का बोध नही हो सकता।

ओम् परमात्मा का अपना और सबसे अच्छा नाम है। सभी वेद, शास्त्रो मे इसकी महिमा गाई है। यमराज ने नचिकेता को उपदेश देते हुए कहा है कि 'जिस शब्द का वेद बार-बार वणन करते है, सब तप जिसे पुकारते हैं, सार मे वह शब्द यह 'ओम्' ह। यह 'ओम्' एक अविनाशी अक्षर है यही ब्रह्म है, यही सबसे परे, सूक्ष्म हे। इसी अक्षर का जानकर जो कोई कुछ मांगता है, वह उसे मिल जाता है। 'ओम्' शब्द तीन अक्षरो से मिल कर बना है। प्रथम अक्षर 'अ' जागृतावस्था का सूचक है। 'उ' अक्षर स्वप्नावस्था का सूचक है। और अन्तिम अक्षर 'म' स्वप्न रहित सुपुप्तावस्था का सूचक है। पूरे शब्द का तात्पय एक चतुथ अवस्था तुरीय अवस्था से है, जिसमे उपरोक्त तीना ही अवस्था सम्मिलित है और जिसमे भावातीत ध्यान की अवस्था रहती ह। यही समाधि अवस्था भी है। ये तीनो अक्षर उस ज्ञान के परिचायक है, जो हमे माता, पिता और गुरु से प्राप्त होता है। सम्पूण शब्द उस ब्रह्म विद्या का सूचक है जो कि अमर है और स्वय को पहचानने की शक्ति देता है। ये तीनो अक्षर योग के तीन अगो क्रमश आसन, प्राणायाम एव प्रत्याहार के परिचायक है, और सम्पूण शब्द समाधि की अवस्था का सूचक है, जो कि योग की अतिम सीटी है और उपरोक्त तीनो अवस्था उस तक पहुँचने की सीढी मात्र है। ये तीनो अक्षर वेदो म वर्णित त्रिमूर्ति के परिचायक है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश।

प्रणव या ओम् हिन्दू धम का सबसे विशिष्ट प्रतीक है। इसे सब वेदो का सार तथा सभी मत्रो मे मूधन्य माना जाता है। ऐसा कहा जाता

है कि तीनो वेदो के मथन से क्रमश भू, भुव, स्व निस्सृत हुए। इन तीनो के क्रम से 'अ, उ, म' ये तीन वर्ण उद्भूत हुए जिनसे ओकार बना। इसलिए प्रत्येक मत्र के उच्चारण से पूर्व ओउम् बोला जाता है। 'स्वस्ति' आदि कह कर दान आदि देने के समय भी 'ओउम्' 'स्वस्ति' कहने की रीति है। प्रणव या ओउम् का शाब्दिक अर्थ है 'वह जिसके द्वारा ईश्वर को प्रभावपूर्ण ढग से स्तुति की जाती है।' इसका यह भी तात्पर्य है कि 'वह जो सदैव नवीन है।' ओउम् या 'प्रणव को वेदो, उपनिषदो, गीता और अन्य धर्म ग्रथो मे बहुत चर्चा की गई है। अथर्ववेद के गोपथ-ब्राह्मण मे एक कथा आती है, जिसके अनुसार इन्द्र ने ओउम् की सहायता से दैत्यो का सफलतापूर्वक दमन किया। इसका तात्पर्य यह भी है कि मनुष्य अपनी आसुरी वृत्तियो पर ओकार से विजय पा सकता है। यजुर्वेद के अनुसार ओकार के निरन्तर उच्चारण और स्मरण के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति हो सकती है। कठोपनिषद मे ओउम् 'परब्रह्म' कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् मे ओउम् के जप द्वारा आत्मा और ब्रह्म के एकीकरण का उपदेश किया गया है। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने यह कहा है कि 'यह शब्दो मे 'प्रणव' है—शब्दाना प्रणवश्चास्मि।' सभी धार्मिक कार्यो का प्रारम्भ ओउम् से ही प्रारम्भ होता है। भगवद्गीता के अनुसार यदि कोई मृत्यु के समय ईश्वर का ध्यान करते हुए ओउम् का उच्चारण करता है तो उसे परमपद की प्राप्ति होती है—

'ओउम् मित्येकाक्षर ब्रह्म
व्याहरन् मामनुस्मरन्।
य प्रयाति त्यजन्देह
स याति परम गतिम् ॥'

'ओउम्' शब्द से 'स्थितप्रज्ञ' मनुष्य की प्रतीति होती है, जो कि निर्भय हो, जिसमे किसी भी प्रकार की इच्छा न हो एव क्रोध उसके पास भी नही फटकता हो। 'ओउम्' शब्द के तीन अक्षर इस ब्रह्माण्ड की

लबाई, चौडाई व गहराई के सूचक है और सपूण शब्द 'देवत्व' का वोध कराता है जो कि शक्ल व आकार की सीमाओ से परे है। ये तीनो अक्षर तीन गुणो के परिचायक है। सत्व, रज, व तम् जव कि पूण शब्द गुणातीत अर्थात् प्रभु का सूचक है। ये तीनो अक्षर तीनो कालो—भूत, वर्तमान व भविष्य—के सूचक है और सपूर्ण शब्द उस परम शक्ति का परिचायक है जो कि सब कालो से परे है। ईश्वर, ब्रह्मा या भगवान का यह चिन्ह है। ओऽम् ही सत्य है और यही हमारा वास्तविक नाम है। इसी मे सारा ब्रह्माण्ड सम्मिलित है। हमारे जीवन, विचार व बुद्धि का यह प्रतीक है और आधार है। इस विश्व का आदि व अन्त ओऽम् मे ही है। हमारी चेतन या सुषुप्तावस्था मे जो कुछ हम देखते है या अनुभव करते है उससे भी परे तक जहाँ बुद्धि का प्रवेश भी नही है वह भी ओऽम् ही है।

यह समस्त ब्रह्माण्ड 'ओऽम्' का ही प्रसार है। 'ओऽम्' ही शान्ति, आनन्द, ज्ञान, शक्ति तथा परम अस्तित्व स्वरूप है। 'ओऽम्' ही सत्य, शिव तथा सुन्दर का उद्घोष है। अत मानव-जीवन का शाश्वत आध्यात्मिक कल्याणकारी लक्ष्य 'ओऽम्' का ध्यान कर आत्मसाक्षात्कार द्वारा जीवन को ओऽम्मय वना कर 'ओऽम्' मे ही विलीन हो जाना है। इस सदर्भ मे जो प्रयास है वे ही साधना, तपस्या तथा भक्ति के नाम से जाने जाते है। 'ओऽम्' मे विलीन होना ही मोक्ष है, कल्याण है, मगल है, आवागमन से मुक्ति है।



स्वस्तिक

हमारे देश मे मांगलिक कार्यों के समय परम मंगल चिह्न स्वस्तिक को अंकित करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल मे चली आ रही है। यह मंगल और सौभाग्य का प्रतीक चिह्न स्वस्ति अथवा कल्याण का वाचक है। यह चिह्न शक्ति का भी द्योतक माना गया है। 'अमरकोश' मे स्वस्तिक का अर्थ आशीर्वाद, मंगल, पुण्य, क्षेम आदि है। स्वस्तिक शब्द की निरुक्ति है—'स्वस्ति-क्षेम कयति इति स्वस्तिक।' अर्थात् स्वस्तिक स्त्रोत स्वस्ति अथवा कल्याण का सूचक है। यास्क के अनुसार स्वस्तिक अविनाशी ब्रह्म का नाम है। स्वस्ति शब्द 'सु-अस्' धातु से बना है। 'सु' का अर्थ है सुन्दर, मंगल और 'अस्' अर्थात् अस्तित्व या उपस्थिति। तीनों लोक, तीनों काल तथा प्रत्येक वस्तु मे जो विद्यमान है, वही सुन्दर-मंगल का स्वरूप है—यही भावना स्वस्तिक की है। पद्म पुराण मे वर्णित १६ चिन्हों मे स्वस्तिक मुख्य है। भरत नाट्यशास्त्र मे एक नृत्य मुद्रा को स्वस्तिक की संज्ञा दी गयी है। वाल्मीकि रामायण मे ध्वज वर्णन मे स्वस्तिक का उल्लेख है। निषाद राज के जलपोत पर स्वस्तिक अंकित झंडा फहराता बतलाया गया है।

यह प्रतीक उतना ही पुराना है, जितना इस धरातल पर मानव जाति। ऋग्वेद मे स्वस्ति के देवता 'सवितृ' देव का उल्लेख है। 'सवितृ-सूक्त' के अनुसार यह देवता मनोवांछित फल देने वाला, संपूर्ण जगत् का

कल्याण करने वाला और देवताओ को अमरत्व प्रदान करने वाला कहा गया है। अह अपनी गति के कारण 'पूपन्' रूप मे तथा नियमो के कारण 'सूय' रूप मे पूज्य है। वेदो मे कल्याण, प्रकाश, दीर्घायु के अर्थ मे विशेष स्थनो पर 'स्वस्ति' का प्रयोग मिलता है। स्वस्तिक की प्रतिष्ठा योग-दशन मे भी है। हठयोग की क्रिया मे शरीर मे योग माग के छ स्थान हैं, जिसे पट्चक्र कहते है। मूलावार चक्र का प्रथम स्थान है। इस एक चक्र मे एक-एक कमल और एक-एक अधिष्ठातृ देवता का स्थान है। मूलाधार चक्र मे चतुदल कमल है। ये चक्र स्वस्ति के आकार के है, इनके अधिष्ठाता देव श्री गणेश हैं। अत योगी भी अपने कार्यारम से पूर्व गणेशपूजन करते है। वे इमे मगलसूचक मानते ह। ब्रह्मज्ञानी, वेदातियो के अनुसार स्वस्तिक परमब्रह्म का चिह्न है।

वेदिक धर्म मे स्वस्तिक चारो वर्गो का प्रतीक, उडते हुए पछी, इण्डोयूरोपीय प्राचीन देवता, वायु देवता, अग्नि पेदा करने का यन्त्र, नारी और पुरुष का मिलन, नारी, गगपति एव सूय का प्रतीक माना गया ह। 'मैकेंजी' ने इस समस्या का विशद रूप से विवेचन किया है और बताया है कि विभिन्न देशो म स्वस्तिक अनेक प्रतीकार्थों को निर्देशित करता है। उन्होंने स्वस्तिक को पजनन प्रतीक उर्वरता का प्रतीक, पुरातन व्यापारिक चिह्न एव अलकरण का चिह्न माना है।

स्वस्तिक विष्णु के सुदर्शन-चक्र का भी प्रतीक माना गया है। सूय का प्रतीक सदैव विष्णु के हाथ मे घूमता है। यह इसलिए कि सूय के उपासको को अपने आदि देवता का सतत् स्मरण रहे। दूसरे शब्दो मे, स्वस्तिक के चारो ओर मडल ह। वह भगवान विष्णु का महान् सुदर्शन चक्र है, जो समस्त लोक की सृजनात्मक एव चालक सर्वोच्च सत्ता है। स्वस्तिक की चार भुजाओ से विष्णु की चतुर्भुजाओ का [illegible] है। स्वस्तिक का केन्द्र-बिन्दु है नारायण का नाभि-कमल, [illegible]

ब्रह्मा का उत्पत्ति-स्थल। इससे सिद्ध होता है कि स्वस्तिका सृजनात्मक है। स्वस्तिक शास्त्रीय दृष्टि से 'प्रणव' का स्वरूप है। जिस प्रकार ॐ में उत्पत्ति, स्थिति, लय तीनों शक्तियों का समावेश होने के कारण इस दिव्यगुणों से युक्त, मगलमय, विघ्नहारक माना गया है, उसी प्रकार स्वस्तिक में भी इसी निराकार परमात्मा का वास है, जिसमें उत्पत्ति, स्थिति, लय की शक्ति है। अन्तर केवल इतना ही है कि, अंकित करने की कला भिन्न है।

सिन्धु सभ्यता में स्वस्तिक का प्राचीनतम उल्लेख मिलता है। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से ऐसी अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैं, जिन पर स्वस्तिक अंकित है। मोहनजोदड़ो की एक मुद्रा में हाथी स्वस्तिक के सम्मुख झुका हुआ दिखलाया गया है। भारत में आज तक लगभग जितनी भी पुरातात्विक खुदाइयाँ हुई हैं, उनसे प्राप्त पुरावशेषों में स्वस्तिक का अंकन बराबर मिलता है। अशोक के शिलालेखों में स्वस्तिक का प्रयोग अधिकता से हुआ है। पालि अभिलेखों में भी इस प्रतीक का अंकन है। बौद्ध और जैन लेखों से सम्बन्धित प्राचीन गुफाओं में भी यह प्रतीक मिलता है। पश्चिम भारत के अनेक गुहा-मंदिरों यथा—कुडा, कार्ले, जूनर और शेलारवाडी में यह प्रतीक विशेष अवलोकनीय है। सांची, भरहुत और अमरावती के स्तूपों में यह स्वतंत्र रूप से अंकित नहीं है, पर सांची स्तूप के प्रवेश द्वार पर वृत्ताकार चतुष्पथ के रूप में प्रदर्शित है।

प्रागैतिहासिक मानव के मूल रूप में गुफा भित्तियों पर चित्रकला के जो बीज उकेरे थे उनमें 'सीधी, तिरछी या आड़ी रेखाएँ, त्रिकोणात्मक आकृतियाँ थीं। यही आकृतियाँ उस युग की लिपि थीं। हर रेखा का अर्थ भी अलग-अलग था जो हर स्थान पर अपनी अलग-अलग ध्वनियाँ व्यक्त करती थीं। स्वस्तिक का प्रतीक भी ऐसा ही चिह्न था किन्तु इसके मूल अर्थ को लेकर कहीं कोई बड़ा अन्तर आज भी नहीं है। पूर्ण या

सबाहु स्वस्तिक का विकास अबाहु स्वस्तिक से हुआ है जो धन चिह्न और गुणन चिह्न दोनो रूप मे प्रागैतिहासिक कालीन गुफा चित्रा मे मिला है।

वाल्मीकि रामायण मे स्वस्तिक प्रकार की नौका का उल्लेख है। यह नौका केवल राजाओ के लिए ही होती थी। दूसरी शताब्दी के 'हरिवंश पुराण' मे नौकाओ के ऊपर बने हुए आयत, वृत्त तथा स्वस्तिकाकार प्रासादो के लक्षण मिलते हैं। स्वस्तिकाकार प्रासाद दो मंजिले भवन के रूप मे होता था। अग्नि (१०८, २०, २१), तथा गरुड पुराण (४७, २१, २३, ३१, ३३) मे स्वस्तिकाकार प्रासाद को अष्टकोण भवन कहा गया है। कामिकागम (३५, ८६) के अनुसार स्वस्तिकाकार प्रासाद दक्षिण तथा उत्तर मे पण्नेत्र वाला भवन है। इस प्रकार नौकाओ के ऊपर बने हुए विविध आकृतियो के प्रासादो का निर्माण उच्चकोटि की वास्तु-कला का परिचय देता है। महाभारत मे जरासघ के प्रकरण (सभा-पर्व) मे स्वस्तिक नामक एक नाम का उल्लेख है। पद्म एव वाराह पुराण मे उल्लिखित धार्मिक चिह्नो मे स्वस्तिक प्रतीक भी है।

बारहवी शताब्दी के जैन विद्वान हेमचन्द्र के अनुसार जैनियो द्वारा मान्य चौबीस चिह्नो मे स्वस्तिक एक प्रधान चिह्न है। जैन दर्शन के अनुसार एक-दूसरे की परस्पर काटने वाली स्वस्तिक रेखाएँ पुरुष और प्रकृति की प्रतीक है। दोनो रेखाओ के एक-दूसरे को परस्पर काटने पर चार भाग होते है, जो प्राकृतिक जगत के चार क्रम-पूर्ववर्ती सर्ग, वनस्पति सर्ग, मनुष्य सर्ग और देव सर्ग के द्योतक है। जैनी आशीर्वाद और स्वास्तिदान मे भी स्वस्तिक का प्रयोग करते है। बौद्ध-धर्म मे भी यह प्रतीक पूज्यनीय है। भगवान बुद्ध के पाद-लक्षणो मे स्वस्तिक का विशेष महत्व है। अन्य देशो मे स्वस्तिक का प्रचार बुद्ध की चरण-पूजा मे ही बढा है। स्वस्तिक भगवान बुद्ध के वक्ष का भी एक शुभ लक्षण

है। योगी स्वस्तिक को हठयोग का एक आसन मानते हैं। उनके अनुसार यह एक प्रकार का यत्न है, जो शरीर में गड़े हुए शल्य आदि का उत्सर्जित कर देता है। जैन अक्षत पूजा के समय स्वस्तिक चिह्न बना कर उसके ऊपर तीन बिन्दु बनाते हैं। ये स्वस्तिक की रेखाओं को चारों ओर गति अर्थात् देव, नरक, तिर्यक् एवं मनुष्य का प्रतीक मानते हैं। बिन्दुओं को रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) तथा मध्यस्थ स्थान को वे मुक्ति का स्थान अर्थात् सिद्धिशाला कहते हैं। पारसी लोग स्वस्तिक को चतुर्दिक् दिशाओं एवं चारों समयों की प्रार्थना का प्रतीक मानते हैं। पारसियों के एक प्राचीन मंदिर के द्वार पर सूर्य, चन्द्र और स्वस्तिक का प्रतीक अंकित है। इन लोगों की धारणा है कि स्वस्तिक सूर्य का प्रतीक है।

भगवान बुद्ध के चरणों पर अंकित 'स्वस्तिक' चिह्न पाया गया है। इसके अतिरिक्त बौद्ध स्तूपों, विहारों, बुद्ध मंदिरों व तत्सम्बन्धी प्राप्त प्राचीन सिक्कों पर भी स्वस्तिक चिह्न पाया गया है। जैन धर्म में भी स्वस्तिक की बड़ी महत्ता है। प्रत्येक मांगलिक कृत्य में स्वस्तिक का प्रयोग किया जाता है। यह प्रतीक पूजा का चिह्न जैन धर्म के २४ चिह्नों में प्रमुख है। इस धर्म के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का यह 'स्वस्तिक' प्रमुख प्रतीक माना जाता है। फारसी लोग स्वस्तिक को चतुर्दिक दिशाओं—चारों समयों की प्रार्थना का प्रतीक मानते हैं।

कुछ विवरणों से पता चलता है कि यह सृष्टि का प्रतीक है। स्वस्तिक की भुजाएँ चार दिशाओं का संकेत करती हैं, अर्थात् चारों ओर शुभ हो। इस अर्थ में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का भी बोध होता है, जिनके चतुर्मुख से चतुर्दिक मंगलमयी वेद ध्वनि निकलती है। स्वस्तिक की चार भुजाएँ चार वेदों, चार दिशाओं के अतिरिक्त चार देवताओं का भी आभास देती हैं। स्वस्तिक के केन्द्र पर चार समकोण बनाने वाली रेखाओं के चारों सिरों से साथ चार अन्य रेखाएँ चार समकोण बनाती हैं। वह

चार देवताओं का द्योतक होती है। मन्त्रदृष्टा ऋषि ने इस मन्त्र में चारों देवताओं से समस्त विश्व के कल्याण की प्रार्थना की है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा
स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा
स्वति न ताक्ष्योंअरिष्टनेमि
स्वस्ति नो बृहस्पतिदधातु

—महनीय कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, विश्व का ज्ञान रखने वाला उषा हमें कल्याणप्रद हो, अरिष्टनेमिताक्ष्य हमारा मंगल करे और वृहस्पति हमारे घर में कल्याण की प्रतिष्ठा करे।

आदिम ईसाइयों में स्वस्तिक का प्रचलन पवित्र प्रतीक के रूप में था और आज भी है, किन्तु अब वह अपने धार्मिक जीवन में स्वस्तिक का अंकन 'क्रास' के रूप में करते हैं जो स्वस्तिक का ही विकसित रूप है। सन् १७७६ में आर्येनिनी को रोम के सेंट एग्निज के नये 'कैटकाम्स' अर्थात् ईसाइयों के मुर्दा दफनाने के तहखाना में एक लैटिन अभिलेख प्राप्त हुआ था। इस अभिलेख पर स्वस्तिक अंकित था। रोम में सानबग की खुदाई से, स्त्रियों के केशों में प्रयुक्त किया जाने वाला एक ऐसा पिन प्राप्त हुआ है जिस पर विशेष प्रकार का स्वस्तिक अंकित है। इस प्रतीक में भुजाओं के सिरे 'सर्प-मस्तिष्क' से जान पड़ते हैं। यूनान के पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त पुरावशेषों, जैसे मिट्टी, पीतल और स्वर्णपात्रों पर भी स्वस्तिक का अंकन मिलता है। साइप्रस से प्राप्त देव-प्रतिमाओं पर भी यह प्रतीक दिखायी देता है। इसी तरह क्रीट से प्राप्त एक रजत-सिक्के पर यह चिह्न अंकित है। यह सिक्का यूरोपीय स्वस्तिक चिह्न की प्राचीनता पर भी प्रकाश डालता है। यूरोप में स्वस्तिक का प्रसार सम्भवतः इटली द्वारा हुआ है।

चीनी लोग भारतीयों की ही भाँति इसे कल्याण, दीर्घायु और सूर्य का प्रतीक मानते हुए इसकी उपासना करते हैं। यहाँ के एक तेंग शासक

वू ने तो यह घोषणा की थी कि सारे चीन में स्वस्तिक प्रतीकोपासना हो। इसके राज्य में घरेलू उपयोग की वस्तुओं पर मकड़ी द्वारा स्वस्तिक आकृति का जाला बनाया जाना परम सौभाग्य का लक्षण माना जाता था। चीन के 'ताओत्से' सम्प्रदाय वाले इस प्रतीक को आत्मा को अमरत्व प्रदान करने वाला मानते थे। जापानी जनता स्वस्तिक को 'मनजी' कहती है। यहां के मूर्तिकार गौतम बुद्ध की प्रतिमाओं में स्वस्तिक का अंकन विशेष रूप से करते हैं। इसी देश में 'फ्यूजीयामा' नामक एक पवित्र तीर्थस्थल है जहाँ पर आए हुए तीर्थयात्री अपनी प्यास बुझाने के लिए एक ऐसे घड़े का जल पीते हैं, जिस पर स्वस्तिक चिह्न अंकित रहता है। जापानियों में ऐसी मान्यता है कि इस घड़े का जल पीने वाला व्यक्ति दीर्घायु होता है। यहां के पात्रों पर इस प्रतीक का अंकन होता है। कोरिया में स्वस्तिक का प्रयोग सुसज्जीकरण और पालकी आदि में होता है। आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड में माओरी जाति के लोग स्वस्तिक को अपने जीवन में परम सौभाग्य का प्रतीक मानते हैं।

इस तरह स्पष्ट है, शुभ और मांगलिक कार्यों पर प्रयुक्त यह चिह्न भारत ही नहीं, अन्य देशों की जनता को भी अनुप्राणित करता रहा है। इस चिह्न में हम अपनी अन्तरात्मा की पुकार और सुख-समृद्धि का प्रेरणा-स्रोत पाते हैं।



परिक्रमा

पूजा स्थलो और देवस्थलो की परिक्रमा अथवा प्रदक्षिणा करते हुए हम अक्सर लोगो को देखते है। कुछ लोग तो व्रजभूमि, राम-भूमि, तथा चित्रकूट की मीलो की परिक्रमा करते ह और इसमे वे अपने को कृतकृत्य समझते है। देवी-देवताओ की पूजा तथा आराधना करने के बाद लोगो का धार्मिक सस्कार तब तक अपूर्ण ही माना जाता है जब तक कि वे उक्त देवस्थली की तीन, पाच, सात अथवा ग्यारह बार परिक्रमा न कर लें। परिक्रमा अथवा प्रदक्षिणा का अर्थ दक्षिणावर्ती अथवा दाहिने हाथ की ओर घूमना है। वस्तुत समस्त जीव-जगत एक चक्र के अतर्गत घूम रहा है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने 'रामचरितमानस' मे कहा है—'सबहि नचावत राम गोसाईं।' सभी एक चक्र मे घूम रहे है। यह बात प्रकृति जगत से लेकर जीव-जगत तक चरितार्थ है। वर्षा मे धरती पर बूदें गिरती हैं और नदी नालो के द्वारा समुद्र मे जाकर मिल जाती है। पुन वाष्प बन कर बादल का रूप धारण कर बूदो के रूप मे पृथ्वी पर गिरती हैं। हमारा पच रचित यह शरीर भी अनक रूप धारण करता हुआ अत मे पच तत्व को प्राप्त कर पुन नया जन्म धारण करता है। इस तरह समस्त जगत एक परिक्रमा की परिधि मे बँधा हुआ है।

परिक्रमा का प्रमुख लक्ष्य अनन्त, विराट सत्ता, अखड और उस अदृश्य की आराधना करनी है जिसन समस्त ब्रह्माण्ड ही की रचना की है। विश्व के समस्त धर्मो और उनके मतावलबियो का ऐसा विश्वास है कि जिस स्थान पर देवताओ की प्रतिमा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे अवस्थित है, वह स्थान अत्यत पुनीत, पूजनोय एव आराधना का स्थल है। इन स्थनो के इद-गिद उस देवी-देवता की दिव्य प्रभा बिखरी रहती है। इस प्रभामडल के अतगत आकर आराधना, ध्यान, पुजा-अर्चा तथा अनुष्ठान करन वाला को अज्ञात आनद को प्राप्ति होती है और वे इस अज्ञात शक्ति का अपने मे अनुभव भी करते है। इस तरह इन देवस्थलो की परिक्रमा करने से उस देवता के प्रभामडल क अतर्गत विद्यमान दिव्य-वर्णो तथा सत्व गुण की विरल किरणो की प्राप्ति होती ह। यही कारण है कि लोग अधिकाधिक बार देवस्थलो की परिक्रमा करते है ताकि उनके अतरतम मे दिव्य-शक्ति का अधिकाधिक समावेश हो सके।

यह भी प्रश्न उठ सकता है कि परिक्रमा करने मे ही दिव्य-शक्ति कैसे प्राप्त हो सक्ती है। यह सर्वविदित है कि सूय और चन्द्र से जिस प्रकार हम ऊर्जा और शीतलता ग्रहण करते ह उसी प्रकार देवस्थलो की परिक्रमा करन से हमे इस अदृश्य शक्ति की प्राप्ति होतो है। हम आज भी अक्सर देखते है कि शनि ग्रह और मगल ग्रह के शमन के लिए लोग क्रमश पीपल और वट वृक्ष की परिक्रमा करते और जल चढाते ह। इन वृक्षो से विशेष प्रकार की ऊर्जा प्राप्त होती है जिनमे ग्रह-शान्ति म योग मिलता है।

इस तरह परिक्रमा अथवा प्रदक्षिणा एक ऐसी अदृश्य और अतहीन आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से हम ध्यान और साधना मे

आध्यात्मिक चिन्मय स्वरूप की प्राप्ति करते हैं जिसमे हम स्वय को पहचाहने मे समर्थ हो सकते है। परिक्रमा हमे अपनी चित्तवृत्तियो को एकाग्र कर परम पिता परमेश्वर मे केन्द्रीभूत करने मे सहायता करती है जिसमे हमे एक अनन्त सुख, शान्ति और प्रसन्नता का स्वानुभव होता है।



परिक्रमा का प्रमुख लक्ष्य अनन्त, विराट सत्ता, अखड और उस अदृश्य की आराधना करनी है जिसने समस्त ब्रह्माण्ड ही की रचना की है। विश्व के समस्त धर्मों और उनके मतावलंबियों का ऐसा विश्वास है कि जिस स्थान पर देवताओं की प्रतिमा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे अवस्थित है, वह स्थान अत्यत पुनीत, पूजनीय एव आराधना का स्थल है। इन स्थानों के इर्द-गिर्द उस देवी-देवता की दिव्य प्रभा बिखरी रहती है। इस प्रभामडल के अतर्गत आकर आराधना, ध्यान, पूजा-अर्चा तथा अनुष्ठान करने वालो को अज्ञात आनद का प्राप्ति होती है और व इस अज्ञात शक्ति का अपने में अनुभव भी करते ह। इस तरह इन देवस्थलो की परिक्रमा करने से उस देवता के प्रभामडल के अतर्गत विद्यमान दिव्य-वर्णो तथा सत्व गुण की विरल किरणो की प्राप्ति होती ह। यही कारण हे कि लोग अधिकाधिक बार देवस्थली की परिक्रमा करते है ताकि उनके अतरतम मे दिव्य-शक्ति का अधिकाधिक समावेश हो सके।

यह भी प्रश्न उठ सकता है कि परिक्रमा करने से ही दिव्य-शक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। यह सर्वविदित है कि सूर्य और चन्द्र स जिस प्रकार हम ऊर्जा और शीतलता ग्रहण करते ह उसी प्रकार देवस्थलो की परिक्रमा करने से हमे इस अदृश्य शक्ति की प्राप्ति होती है। हम आज भी अक्सर देखते है कि शनि ग्रह और मगल ग्रह के शमन के लिए लोग क्रमश पीपल और वट वृक्ष की परिक्रमा करते और जल चढाते है। इन वृक्षो से विशेष प्रकार की ऊर्जा प्राप्त होती है जिनसे ग्रह-शान्ति मे योग मिलता है।

इस तरह परिक्रमा अथवा प्रदक्षिणा एक ऐसी अदृश्य और अतहीन आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से हम ध्यान और साधना के

आध्यात्मिक चिन्मय स्वरूप की प्राप्ति करते है जिसमे हम स्वय को पहचाहने मे समर्थ हो सकते है। परिक्रमा हमे अपनी चित्तवृत्तियो को एकाग्र कर परम पिता परमेश्वर मे केन्द्रीभूत करने मे सहायता करती है जिसमे हमे एक अनन्त सुख, शान्ति और प्रसन्नता का स्वानुभव होता है।



त्रिशूल और डमरू

सत्व, रज और तम—तीन तत्वो का शिव मे समावेश माना गया है। विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना के मूल मे इस त्रिगुणी शक्ति का महत्वपूर्ण योग रहा है। शिव तत्व के साकार होने के साथ ही 'त्रिशूल' भी साकार हो गया। इस तरह त्रिगुणात्मक तत्व के प्रतीक त्रिशूल की तीनो पखुडियाँ समस्त विश्व का आधार रूप है जिसमे सृष्टि, सवधन और सहार तथा सत्, चित् और आनद सन्निहित हैं। त्रिशूल की उपासना भी शक्ति के सपस्त रूप मे हमारे देश मे अनादि काल से की जा रही है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन तीनो का त्रिशूल मे समावेश हुआ है और समस्त विश्व की चेतन्य लीला इन्ही शक्तियो मे केन्द्रीभूत है। इसीलिए शिव ने इन तीनो शक्तियो के प्रतीकस्वरूप त्रिशूल को अपने हाथ मे धारण कर रखा है। हमारे देश मे अनेक शिव मदिर ऐसे है जिनमे शिव-लिंग न रह कर केवल त्रिशूल ही प्रतिष्ठापित किया गया है।

शिव और शिवत्व की परिकल्पना मे हमने शिव के हाथो मे त्रिशूल और डमरू धारण करने की प्रतिकृत अपने मानस-पटल पर अकित कर रखी है। तुलसीकृत 'रामचरित मानस' मे शिव-विवाह प्रसग मे यह लिखा गया है—

'कर त्रिशूल अरु डमरू विराजा,
चले बसहं चढि बाजहिंबाजा।'

भारतीय ही नहीं, विश्व संस्कृति और सभ्यता में तीन की संख्या का अत्यधिक महत्व है। इस पवित्र संख्या में पुरुषत्व, भाग्य और गतिशीलता का बोध होता है। हमारे यहाँ तीन लोक, तीन मुख्य देव और तीन गुण माने गये हैं। भारत की तीन मुख्य नदियाँ—गंगा, यमुना और सरस्वती मानी गयी हैं। पैथागोरस के मुताबिक तीन की संख्या पूर्ण है जिसमें प्रारंभ, मध्य और अंत आता है। इसी कारण इसे देवताओं का प्रतीक माना गया है। यूनानी धर्म में भी ३, ९ और १२ की संख्या पवित्र मानी गयी है। देवता भी तीन के गुणों में विभाजित किये गये हैं। होमर ने ९ की संख्या को मूसा का प्रतीक माना है। ईरानी विश्वास में ३ स्वर्ग, ३ नर्क और ३ पृथ्वी मानी गयी है। ३ का तीन गुना होने के कारण ९ की संख्या भी पवित्र मानी गयी है। आयरलैंड में २७ की संख्या पवित्र मानी गयी है क्योंकि वह तीन की नौ गुनी है। ईसाई मतावलंबी भी 'क्रास' के रूप में त्रिशूल को ही मानते हैं। हिन्दुओं के तीन देवता—ब्रह्मा, विष्णु और महेश माने गये हैं। नारवे और स्वीडन में तीन देवता माने गये हैं जो तीन राजगद्दियों पर इन्द्र-धनुष पर बैठते हैं। ईसाई धर्म में तीन आदर्श—श्रद्धा, आशा और दान माने गये हैं। प्रकृति में तीन वस्तुएँ—खनिज, वनस्पति और जीव तथा रंगों में लाल, पीला और नीला माना गया है। चिकित्सा शास्त्र में भी तीन प्रकृति—वायु, पित्त और कफ और वायु में शीतल मंद और सुगंध मानी गयी है। सत्पुरुष का आदर्श भी सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् है। इस तीन की संख्या का विश्वव्यापी महत्व है। वेदों में 'मम ब्रह्म सनातन' कहा गया है।

इस तरह 'त्रिशूल' में त्रिगुणात्मक तत्व विद्यमान हैं जो सत, रज और तम हैं। त्रिशूल इन तीनों गुणों का प्रतीक है। ब्रह्माण्ड की रचना भी इन त्रिगुणी शक्ति के माध्यम से हुई है। भारतीय तंत्र शास्त्र—आगमों—में शिव से उत्पन्न तीन शक्तियाँ बतलायी गयी हैं जो इच्छा, ज्ञान और

क्रिया है और समस्त विश्व का कार्यकलाप इन्हीं शक्तियों में केन्द्रीभूत हैं इसलिए इन तीनो शक्तियो के प्रतीक के रूप मे त्रिशूल को भूतभावन शिव धारण करते हं। हमारे शरीर के अदर तीन मुख्य नाडियाँ—इडा, पिंगला और सुषुम्ना है जो मूलाधार लिंग को आवृत्त करती है। यह तीनों नाडियाँ त्रिशूल की द्योतक हैं। शिव ने इन तीनो को अपने वश में कर लिया था जिस कारण उनके हाथ मे त्रिशूल है। यह ओंकार का भी द्योतक है। यदि ओऽम् को उल्टा कर दें तो वह त्रिशूल का रूप ग्रहण कर लेता है।

इसी तरह शिव जी के हाथो मे डमरू वाद्य विराजमान है जो हमारी आदि ध्वनि का प्रतीक है। पाणिनी ने सपूण भारतीय वणमाला की ध्वनियो के डमरू से प्राप्त होने का उल्लेख किया है। डमरु से एक विशेष प्रकार की ध्वनि प्रस्फुटित होती है जो उद्दाम और तडित नाद की प्रतीक है। इसके श्रवण मात्र से हमारे हृदय मे एक प्रकार का हलचल, कोलाहल और आन्दोलन-सा उत्पन्न होता है। बताया जाता है कि प्रेत-बाधा डमरू के निनाद से स्वत दूर होती है और मगल तथा कल्याण की सृष्टि उत्पन्न होती है। इसकी ध्वनि से हमारे अदर की सुषुप्त भावनाएँ भी जाग्रत होती ह और एक विशेष प्रकार की शक्ति का प्रस्फुटन होता है। भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए उनकी पूजा के समय डमरु बजाने की प्रथा अनादि काल से चली आ रही है। शख के समान डमरू की ध्वनि भी शक्ति और शौर्य की प्रतीक होने के साथ ही मगल की भी प्रतीक है। यही कारण है कि डमरू का उद्दाम निनाद भी मागलिक अवसरो की प्रमुख ध्वनि हो गया है।



कमल

यद्यपि प्राकृतिक जगत मे अनेक प्रकार के पुष्प अपनी सहज छटा, सुगंध और सुषमा से समस्त प्राणियो मे नयी स्फूर्ति और सौंदय-बोध जाग्रत करते हैं लेकिन कमल एक ऐसा फूल है जो अपनी मन्द मादक सुगन्ध, सुन्दरता तथा कोमलता के कारण सभी पुष्पो मे उच्च स्थान रखता है। इसे फूलो का राजा भी कह सकते है। विश्व-साहित्य विशेष रूप से भारतीय-साहित्य मे प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के कवियो ने अपनी काव्यकृतियो मे कमल का जितना विशद वणन किया है उतना अन्य पुष्प उनको आकृष्ट न कर सके। यही कारण है कि कमल हमारे भारतीय-साहित्य मे विविध नामो से विख्यात है जो इसकी लोकप्रियता को प्रकट करता है—यथा —सरोज, पकज, पद्म, इन्दीवर, सरोरुह, सरसिज, पुष्कर, पुडरीक, अरविन्द, अम्बुज, राजीव, वारिज, शतपत्र आदि। ईश्वर के सभी अवयवो की उपमा म हमने कमल का अवश्य प्रयोग किया है यथा—कमलनयन, कमलवदन, कर-कमल, हृदय-कमल चरण-कमल आदि। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने रामचरित मानस मे ये पक्तियाँ लिखी हैं—

'नवकज लोचन कज मुख
करकज पद कजारुणम्।'

कमल अत्यन्त प्राचीन पुष्प है। ऋग्वद म इसका प्रारम्भिक उल्लख मिलता है। पौराणिक विश्वास के मुताबिक विष्णु की नाभि म उत्पन्न

कमल मे ब्रह्मा का जन्म हुआ, इसी कारण उन्हे पद्मयोनि तथा पद्मसभव कहा गया है। बौद्ध और जैन धम मे भी कमल की महत्ता अविकल स्वीकार की गयो है। अथर्ववेद मे कमल की दो किस्मे—पुष्कर (नील कमल) और पुण्डरीक—(श्वेत कमल) बतायी गयी है। इसमे हृदय की उपमा कमल से दी गयी है। कमल लक्ष्मी का आसन पुष्प माना गया है। बिना कमल के लक्ष्मी के पूर्ण स्वरूप की कल्पना नही की जा सकती। यही कारण है कि लक्ष्मी को पद्मावती, पद्मेष्ठिता, पद्मानना, पद्मा, पद्मवर्णा, पद्माक्षी, पद्मिनी, पद्महसा, पद्मस्था, पद्मस्थिता, पद्मप्रिया, पद्म-सभव आदि विविध नामो से सम्बोधित किया गया है। सागर मंथन के समय जो चौदह रत्न मिले ये उनमे लक्ष्मी और कमल भी मिले थे इसीलिए दोनो को साथ मे रखा गया है और दोनो के बीच अनन्य सम्बन्ध बताया गया है।

भारतीय कला मे भी कमल का विशिष्ट स्थान है और अत्यन्त प्राचीन काल से ही कलाकारो ने अपनी कलाकृतियो मे कमल को प्रमुखता के साथ अकित किया है। साँची के स्तूपो मे कमल कई स्थानो पर अकित है। प्राचीन नगरो के द्वारो, विहार उद्यानो तथा राजप्रासादो मे कमल का प्रमुखता से अकन किया गया है। पूर्ण घट अथवा मगल घट मे कमल गुच्छ का मनोरम स्वरूप हमे साची, मथुरा, भरहुत, अमरावती आदि स्थानो के शिल्प मे मिलता है। साँची, के शिल्प मे अनेक नर-नारियो के हाथो मे कमल सुशोभित होते है। कमल पुष्प धारण करना उस युग के जन-जीवन का एक प्रमुख अग माना गया था। भरहुत स्तूप के वेदिका-स्तम्भो मे भाति-भाति के कमल उत्कीर्ण है जिनके मध्य मे पुरुष अथवा स्त्री की आकृति चित्रित की गयी है। आज भी हम वैवाहिक अथवा मागलिक कार्यो के अवसर पर अपने दरवाजो की दीवालो को कमल-गुच्छो, कमल-पुष्पो और कमल के पत्तो से सजाते है जो अत्यन्त शुभ माना जाता है।

लेकिन कमल का एक और स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित है जो ऊपर वर्णित बातों से सर्वथा भिन्न है। कमल एक लीला-पुष्प के रूप में हमें अनासक्त भाव का भी उपदेश देता है। लक्ष्मी, विष्णु और बोधिसत्व का यह एक लीला-पुष्प भी है। लक्ष्मी और कमल का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना गया है। लक्ष्मी वैभव और धन-सम्पदा की प्रतीक मानी गयी है लेकिन उनका आसन कमल सम्पदा और वैभव के होते हुए भी उससे पूर्णत विरक्त रहने का शिक्षा देता है। वह बुराई में से अच्छाई को ग्रहण करता है और उसको विकसित करता है। कमल कीचड़ से उत्पन्न होकर भी सर्वत्र अपनी कांति बिखेरता है। जल में रह कर भी वह जल से पृथक् रहता है। उसका मुख सूर्य की ओर रहता है और प्रकाश देखते ही वह पुष्पित और पल्लवित हो उठता है लेकिन सूर्यास्त होते ही उसकी पखुड़ियाँ सपुट हो जाती है। वस्तुत साधक सत्य और ज्ञान के प्रकाश की ओर उन्मुख होकर आत्मोन्नति की प्रेरणा कमल से ही प्राप्त करते है। योग-साधना मे भी कमल का उच्च स्थान है। कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए जिन षटचक्रो की परिकल्पना की गयी है, वे कमलवत् माने गये है। कुंडलिनी का मूलाधार वे ही कमल हैं। कमल पवित्रता और अमरत्व का भी प्रतीक माना गया है। श्रीमद् भगवद्गीता मे भी इस बात का उल्लेख है 'जिस प्रकार कमल जल मे रह कर भी उससे निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार मनुष्य को भी ससार मे रहते हुए भी उससे पृथक् रहना चाहिए। कर्म करते हुए भी उनमे लिप्त नहीं होना चाहिए।'

इस तरह कमल एक शाश्वत सत्य एव सनातन शिव का आदर्श उदाहरण हमारे सन्मुख प्रस्तुत करता है। ससार रूपी कीचड़ से उत्पन्न हो कर जो ससार-रूपी मोह और माया जाल से पृथक् रहते है और सासारिकता से सर्वथा मुक्त रहते है वही सच्चे मानव है। कमल इस बात की हमें शिक्षा देता है कि अनासक्त रहो, प्रकाश की पूजा करो,

सूर्य

मानव सभ्यता के समारम्भ से ही ऊर्जा का अक्षय भंडार होने के नाते सूर्य हमारा जीवनदाता माना गया है। मानव ने सूर्य के उदय और अस्त होने के अनुसार दिन और रात की अवधारणा विकसित की और इसके अनुसार अपने क्रिया-कलाप निर्धारित किये। सूर्य की ऊर्जा से प्रभावित होकर ही मानव ने इसे देवता स्वरूप मान कर इसकी पूजा प्रारंभ की जो विश्व भर में किसी-न-किसी रूप में प्रचलित है। विश्व का प्राचीनतम सभ्यताओं में सूर्योपासना की प्रथा रही है। हिन्दू धर्म के अंतर्गत उपासना के क्षेत्र में जिन प्रमुख पंच देवों को प्रतिष्ठित किया गया है उनमें गणेश, शिव, विष्णु तथा शक्ति के अलावा सूर्य भी हैं। सूर्य जीवन-शक्ति देने वाले के रूप में माने गये हैं। उपनिषदों में सूर्य को प्राण कहा गया है।

भारत में प्राचीन काल से ही सूर्योपासना चली आ रही है। हमारे पौराणिक ग्रंथों में सूर्य की स्तुति अनेक प्रकार से की गयी है। वैदिक देवमंडल के एक देवता के रूप में सूर्य को विराट विश्व में जीवन का मूलाधार बताया गया है। वेदों में सूर्य के संबंध में सुन्दर परिकल्पनाएँ की गयी हैं और उसे सुवर्ण के समान माना गया है तथा उसका रथ भी सोने का कहा गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सूर्य प्रजापालक सात किरणों से युक्त है। उसके एक पहिए वाले रथ में सात घोड़े जुतते हैं। सभी लोग इस पहिए के आश्रित हैं। पुराणों के अनुसार सूर्य-मंडल ही

सूर्य रथ है और इसमें जुते हुए सात घोड़े सात ज्ञानेन्द्रिय रूप हैं और ग्रह-व्यक्त गति का साधन बताया गया है।

वाराह पुराण के मुताबिक शाम्ब ने उदयगिरि, मथुरा, शाम्बपुर (पश्चिमी पंजाब के चन्द्रभागा के तट पर वर्तमान मुल्तान के निकट), तीन सूर्य मंदिरों की स्थापना करायी थी। इन तीन मंदिरों में स्थापित प्रतिमाएँ, प्रातः मध्याह्न और संध्या के समय अस्त होते सूर्य की प्रतीक हैं। मथुरा में भी शाम्ब के द्वारा स्थापित सूर्य की स्वर्ण प्रतिमा शाम्बादित्य के नाम से प्रसिद्ध है जिसका वर्णन चीनी यात्री के ह्वेनसांग ने किया है। बताया जाता है कि मुहम्मद-बिन-कासिम ने भारत पर आक्रमण के समय सन्, १७१२ ईस्वी में इसे नष्ट कर दिया। ऐसा माना जाता है कि भारत में सूर्योपासना का समारंभ ईरान के सूर्योपासकों के संपर्क में आकर हुआ। गुप्तकालीन प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वाराह मिहिर ने अपनी पुस्तक 'वृहत्संहिता' में भी विष्णु की प्रतिष्ठा में सूर्य के स्मरण का उल्लेख किया है। कृष्णकालीन सूर्य प्रतिमाओं पर ईरानी प्रभाव झलकता है। इस तरह की सूर्य की प्रथम प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में है। शुंग काल में बोधगया के वेदिका स्तंभ पर चार घोड़ों के रथ पर आरूढ़ सूर्य प्रदर्शित है। डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार ईरान में मिहिर की पूजा का अधिक प्रचार था। शकों और पह्लवों में भी सूर्योपासना प्रचलित थी और भारत में भी सूर्योपासना को प्रचारित करने में इनसे मदद मिली।

सुप्रसिद्ध यात्री अलबरूनी ने यह बताया है कि प्राचीन ईरानी पुरोहित जब भारत आये तो उन्होंने भारत में सूर्योपासना प्रारंभ की और इसी के साथ उत्तर भारत में सूर्य मंदिर के निर्माण की परंपरा प्रारंभ हुई। मध्य काल से लेकर आधुनिक काल तक भारत में अनेक सूर्य मंदिरों का निर्माण हुआ जिनमें से कुछ का ऐतिहासिक महत्व है। स्थापत्य और शिल्प की दृष्टि से भी ये सूर्य मंदिर अद्वितीय बेजोड़ हैं। स्कंदगुप्त

के इंदौर मे मिले ताम्रपत्र अभिलेख से स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर स्थित इन्द्रपुर तथा मध्य प्रदेश के खजुराहो मे सूय मदिर थे जो नष्ट हो गये। चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने अपने भारत यात्रा वर्णन में कन्नौज स्थित हर्षकालीन सूय मदिर का उल्लेख किया है। राजपूत ान मे भी कई सूय मदिर बनाये गये। कश्मीर के शासक ललितादित्य के समय का मार्तण्ड मदिर खडितावस्था मे भी स्थापत्य कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इन्ही मदिरो की श्रेणी मे गुजरात के मोढेरा का सूय मदिर, चदेलकालीन खजुराहो का चित्रगुप्त मदिर, उडीसा स्थित कोणार्क का सूर्य मदिर, दक्षिण भारत का तिरुपति बाला जी मदिर तथा प्रतिहार काल का मडखेरा (टीकमगढ) का सूय मदिर भी अपनी उत्कृष्ट स्थापत्य कला के लिए प्रसिद्ध है।

पूरे भारत मे सूर्योपासना दो मुख्य रूपो मे प्रचलित थी। प्रथम नव-ग्रह के रूप मे और दूसरे द्वादश आदित्यो मे आदित्य रूप सूर्य मे। हमारे दो महाकाव्य 'रामायण' और 'महाभारत' सूय सन्दर्भो से भरे पडे है। 'महाभारत' मे सूय को देवेश्वर कहा गया है। 'रामायण' मे भगवान राम सूयवशी बताये गये हैं। अन्य देशो मे भी सूर्योपासना प्रचलित है। रोमन सस्कृति मे 'अपोलो' सूय देवता ह। उनके यहा 'अपोलो' को सात श्वेत घोडो के रथ पर यात्रा करते चित्रित किया गया है। मिस्र के लोग सूर्य को 'रे' नाम से, बेबीलोन के लोग 'शमश' नाम से तथा मैक्सिको मे 'तोम तिक' जिसका अर्थ चार प्रकार की गति वाला सूय, पारसी धम मे सूर्य को 'मित्र' देवता व इटली मे भी 'मित्र', नाम से पुकारते है। इटली मे सूय पूजको का तात्रिक अचन भी था और वे कन्दराओ मे लुक-छिप कर तान्त्रिक साधना करते थे।

आज की दुनियाँ मे ऊर्जा के परम्परागत साधनो यथा—इधन, तेल, कोयला, गैस आदि की उत्तरोत्तर कमी होने को दृष्टि मे रखते हुए पुन

सूर्य की ओर हमारे वैज्ञानिक झुके हैं और सौर ऊर्जा की प्राप्ति के लिए तरह-तरह के व्यापक प्रयोग कर रहे हैं। इस तरह सूर्य आज की कठिन परिस्थितियों में भी हमारा साथ दे रहा है और भविष्य में भी मानव-जीवन को सुखद और सुखमय बनाने के लिए देता रहेगा।



वृक्ष

सभ्यता के समारम्भ से ही मानव का प्रकृति मे अभिन्न सम्बन्ध रहा है। पेड़-पौधो के बीच ही वह जन्म लेता तथा विकास करता था। वस्त्रो के स्थान पर वह वलकल धारण करता था। पूरी मानव जाति के इतिहास मे वृक्षो और वनो के प्रति लोगो की अपार श्रद्धा रही है और वृक्षो को आरोपित करना और उसकी सेवा करना धार्मिक कर्तव्य माना जाता रहा। प्राचीन धमग्रन्थो और पुराणादि मे वृक्ष-प्रतिष्ठा सम्बन्धी व्रतादि का उल्लेख मिलता है। कुछ वृक्ष हिन्दू समाज मे नित्य या विभिन्न अवसरो पर पूजित होते रहे हैं। भारतीय सस्कृति के अमर ग्रन्थ ऋग्वेद मे प्रत्येक मगल-अवसर पर वृक्षो के कोमल पत्तो का स्मरण किया गया है। वृक्ष जीवमात्र के लिए उपकारी है और सर्वपूज्य भी हैं। इनको विभिन्न देवताओ का प्रतीक माना जाता है। अनेक देवताओ की प्रसनता इनके माध्यम से होती है। हमारे ऋषि-मुनियो ने वृक्ष-सृष्टि का नामातर 'मुख्य सृष्टि' दिया है। वेदो मे वृक्षो की महिमा एव उनका स्पर्श माहात्म्य विशेष रूप से वर्णित है। अठारह पुराण, छ शास्त्रो मे वृक्षो की विभिन्न गाथाएँ उपलब्ध होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने इन वृक्षो की मुक्तकठ मे प्रशसा की है।

भारतीय सस्कृति मे वनो और वृक्षो का विशेष महत्व है। धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से इनका विशेष योगदान है। मुस्लिम

संस्कृति मे भी वृक्षा का महत्व कही कम नही। रेगिस्तान मे वृक्षा का प्राय अभाव रहता है लेकिन जब कही वृक्षो का झुरमुट देखने मे आता है तो वे उसे खुदा का वरदान कहते ह उनकी संस्कृति मे वृक्षो को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है कि वह हरे रग को ही पवित्र मानने लगे और नखलिस्तानो को नुकसान न पहुँचाना उनका एक लक्ष्य बन गया हे। वे अरब के खजूरो को आज भी बडे प्रेम से खाते ह।

कालिदास के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिज्ञान शाकुन्तल मे शकुन्तला कण्व ऋषि के आश्रम से विदा लेते समय अपनी सभी सहेलियो से मिलन के साथ ही उन वृक्षो को भी विह्वल होकर आलिंगन करती है जिन्हे वह सीचा करती थी। प्राचीन ऋषि-मुनियो को यह ज्ञात था कि वृक्षो का जहाँ अभाव हे, वहाँ अनावृष्टि होती है, और यही कारण है कि शास्त्रो मे निरर्थक वृक्षच्छेदन की बहुत ही निन्दा की गयी है। इतना ही नही, उसे एक प्रकार का पाप समझा गया है। अत हमारे यहाँ वृक्षारोपण को इतना महत्व दिया गया था कि वृक्ष को पुत्र तुल्य मानने का उल्लेख भी मिलता हे, यहाँ तक कि इन रोपित वृक्षो को 'धमपुत्र' माना गया है। प्राचीन काल मे जब लोग वृक्ष के नीचे रहते थे तब वे वृक्षो का बडा आदर करते थे। शान्ति के लिए जिस प्रकार इन्द्र, वरुण आदि देवताओ की प्रार्थना करते थे, उसी प्रकार वृक्षो की भी प्रार्थना करते थे।

प्राचीन भारतीय सिक्का मे मगध के प्राचीन सिक्को पर हम पवित्र वृक्षो के चित्र उपलब्ध होते ह। इनमे तने मे दोना ओर चार शाखाएँ निकली हुई दिखाई गई ह। बाद के युग मे सिक्का पर वृक्षा को एक वृत्त के अन्दर दिखाया गया है। कुछ अन्य सिक्को मे वृक्ष की चोटी पर नन्दी पाद दिखाया गया है। कुछ अन्य सिक्को मे कुछ पहाडिया के ऊपर दिखाया गया है और उसके पत्ते स्पष्ट बनाये गये ह। चौथे प्रकार के

सिक्कों मे वृक्ष को एक वर्ग के अन्दर दिखाया गया है। इसी प्रकार के सिक्के बुलन्दी बाग पटना, सारनाथ और कौशाम्बी मे भी मिले है, जो सम्भवत तृतीय शताब्दी ई० पू० के है। पाँचवें प्रकार के सिक्को मे हम यह देखते है कि प्रत्येक शाखा पर दो पत्ते दिखाये गये है। प्राचीन भारत मे वृक्ष पूजा विशेष रूप से वृक्षो मे सम्बद्ध थी, जो एक प्रकार की देव जाति थी। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉक्टर कुमार स्वामी का अनुमान है कि बौद्ध और जैन साहित्य म वर्णित अधिकाश यक्षचैत्य, पवित्र वृक्ष ही रहे होंगे, जिनकी आम जनता पूजा करती थी। वृक्ष तथा उसके अधिष्ठाता देवता की पूजा का यह रूप मोहनजोदडो, हडप्पा की मुद्राओ पर अकित चित्रो म भी दृष्टिगोचर होता है। वृक्षो की सुन्दर आकृति तथा उसके पत्तो की शिराओ का आलेखन स्पष्ट करता है कि उनको बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त था। सिन्धु घाटी सभ्यता मे यक्षी का वृक्षो से सम्बन्ध दृष्टिगोचर होने लगा था, क्योकि अनक चित्रो मे यक्ष को वृक्ष के मध्य के तथा कुछ चित्रो मे वृक्ष के पास चित्रित किया गया है। भारतीयो न मनुष्य और प्रकृति के मध्य कभी विशेष अन्तर नही माना। जब उन्होने वृक्ष को सजीव माना तो यह भी कल्पना की कि उसकी आत्मा बहुत कुछ मनुष्य के समान होगी, जो कि ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अतएव हम देखते है कि यक्ष को मनुष्य के आकार से बनाया जाता था। यद्यपि कभी-कभी उसके सीग भी बनाये जाते थे तथा कभी-कभी सीग, खुर और पूछ से युक्त यक्ष बनाये जात थे।

सिन्धु घाटी सभ्यता की कलाकृतियो पर जो वृक्ष मिलते है व बबूल, पीपल, कमल, नीम इत्यादि है। इनमे बाद मे भरहुत साची एव बोधगया के वृक्ष जगने के साथ बनाये गये। मोहनजोदडो की मुद्रा पर जिस प्रकार वृक्ष के साथ उसकी देवी अकित है, उसी प्रकार भरहुत के आलेखना मे भी चित्र मिले हैं।

ऋग्वेद मे एक मत्र मे अश्वत्थ (पीपल) की स्तुति की गयी है जिसमे उसके छोटे-छोटे लाल फलो को मधुर बताया गया है। अथर्ववेद म कहा गया है कि स्वर्ग के देवता उसकी छाया मे बैठते है। तैतरीय सहिता मे हम पवित्र वृक्ष को पशु की बलि देने का वर्णन पढते है। अथर्ववेद मे चैत्यवृक्षो का वर्णन मिलता है तथा उनकी अधिष्ठाता, देवताओ की स्तुतिया को गयी है। उनमे प्रार्थनाए की गयी है कि वे नवविवाहित वर-वधू पर कृपा करें। छान्दोग्य उपनिषद मे वृक्षो के अधिष्ठाता देवताओ अथवा वृक्षो का उल्लेख मिलता है। जातको मे वृक्षो के देवताओ की पूजा के वर्णन मिलते है। कभी-कभी इन देवताओं का प्रसन्न करने के लिये नरबलि देने का भी वर्णन मिलता है। प्राचीन काल के यहूदियो की तरह भारत के लोग भी वृक्षो से भविष्य पूछते थे तथा यह विश्वास करते थे कि व प्रसन्न होकर सन्तान, यश, धन इत्यादि प्रदान करते ह।

आर्य जब भारत आये तो उन्होने बडी-बडी नदियो के किनारे वनो से घिरे सौन्दर्य स्थलों पर अपनी बस्तियाँ बनायी, जल का पवित्र और सर्वोत्तम पदार्थ माना। गगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी आदि नदियों को पतित पावन और देवियो' का दर्जा दिया। इसी प्रकार गहन-वनो मे हमारे ऋषि-मुनियों ने बड़े-बडे आश्रम बनाये जहाँ शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया जाता था, वहाँ नागरिक धार्मिक उपदेशो और आध्यात्मिक शांति के लिए जाते थे। हमारे पवित्र वेद-उपनिषदो, दर्शन और पुराण आदि महान और पवित्र ग्रन्थो की रचना इन्ही वन्य आश्रमो मे की गयी। कन्दमूल फलो को सर्वोत्तम दर्जा दिया गया। यही नहीं, कुछ वृक्षो को धार्मिक दर्जा दिया गया और वृक्ष लगाना और उसका पालन-पोषण हमारी सस्कृति का मुख्य अग माना गया है। आयुर्वेद म बहुत स वृक्षो के फल, जड, छाल आदि का उल्लेख किया गया है। वृक्षो को जला कर भोजन बनाना और सर्दी से मुक्ति पाना तो आम बात है। अब हमारी सस्कृति म वृक्षो का महत्व इतना अधिक है कि हमारा कोई धार्मिक

कृत्य हवन-यज्ञ के बिना पूर्ण नहीं होता चाहे मुंडन हो, विवाह हो अथवा कोई कर्मकांड हो।

वैदिक दर्शन में वृक्ष आध्यात्मिक प्रतीक का रूप भी लेता है। वैदिक परिभाषा में वृक्ष शब्द प्रकृति (शरीर एवं विश्व) वाचक है। वेद में 'अश्वत्थ', 'पिप्पल', तथा 'वृक्ष' शब्द क्षणभंगुर संसार के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। इस वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, इसे 'सुपर्ण' कहा गया है, एक 'जीवात्मा' और दूसरा 'परमात्मा' का प्रतीक है। इस प्रकार वृक्ष प्रतीक एक महत्वपूर्ण अर्थ रखता है। जिस प्रकार वृक्ष जीवमात्र के लिए उपकारी है, उसी प्रकार मनुष्य जीवन भी प्राणीमात्र के लिए उपकारी होना चाहिए और इस शरीर की क्षणभंगुरता हम न भूलें। इसी रहस्य को हमारे ऋषियों ने सदैव प्रतीक रूप में समझाने का प्रयत्न किया है और हम उन प्रतीकों की प्रतिमा, पूजा एवं उपासना से दिव्य शक्ति को प्रसन्न कर सकते हैं।

वृक्ष पूजा ने विभिन्न समाजों में विभिन्न रूप धारण किये। नेजरन में स्थित पवित्र खजूर-वृक्ष पर अरब लोग सुन्दर वस्त्र तथा महिलाओं के आभूषण टाँगते थे। बिवलोस के आइसिस के मंदिर में लगे पवित्र एरिका वृक्ष पर सुन्दर वस्त्र लपेट कर तथा मीर (एक सुगन्धित पौधा) का तेल चुपड़ कर पूजा की जाती थी। ग्रीक लोग बलूत के वृक्ष के आगे धूप जलाकर और हवन करके पूजा करते थे। वृक्ष पर चन्दन लगाने, उनकी शाखाओं पर मालाएँ चढ़ाने, उनके चारों ओर दीपक जलाने, पशुओं की बलि देने तथा प्रदक्षिणा करने से उनके अधिष्ठाता देवता प्रसन्न होते थे। बाबुल के लोग देवदारू के वृक्ष को पृथ्वी और स्वर्ग के रहस्य बताने वाला मानते थे। उनका विश्वास था कि उसके गूदे पर 'हया' देवता का नाम लिखा रहता है। एक काबुली मुद्रा पर भी पवित्र वृक्ष बना हुआ मिला है, जिसकी सात शाखाएँ है, जिनमें तीन दाहिनी ओर तथा चार बायीं ओर हैं जिनमें दोनों ओर एक-एक फलवाली शाखा है। मिस्र में यह

माना जाता था कि ताड-खजूर की देवी सबका पालन करती है। मिस्र के अठारहवें राजवंश का एक लेख मिला है जिसमे सूर्य वृक्ष की पूजा का चित्र अंकित है। ग्रीक लोग बलूत को जियस देवता का वृक्ष मानते थे तथा रोमन लोग उसे जुपीटर का वृक्ष मानते थे। पारसी लोग समस्त वृक्षों को पवित्र मानते है। बौद्ध लोग पीपल को पवित्र मानते है, क्योंकि उसके नीचे बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार जैन लोग शाल वृक्ष का पूजन करते है। डेविड ने शहतूत के पेड मे भविष्य पूछा था। केल्ट जाति के लोग 'ऐश' के पेड को पवित्र मानते थे। वृक्ष को देवता मान कर उसकी पूजा प्राचीन 'मय' सभ्यता व अरब मे की जाती थी, जो वृक्ष पूजा का विशुद्ध और सरल रूप था। अरब के नेजरान्य स्थान मे पवित्र खजूर-ताड की पूजा भी उसी प्रकार होती थी। वार्षिक उत्सव के समय उसे सजाया जाता था और उसमें उत्तम वस्त्र तथा महिलाओं के आभूषण लटकाये जाते थे।

विश्व के समस्त प्राचीन धर्मों मे किसी न किसी पवित्र वृक्ष की पूजा होती रही है। इस प्रकार के वृक्षों तथा लताओं को हम समस्त प्राचीन उपासना स्थलों मे पाते है। आदिम जातियों मे यह एक बहुप्रचलित विश्वास रहा है कि पवित्र वृक्ष मे ईश्वर का वास होता है तथा किसी न किसी रूप मे यह विश्वास आधुनिकतम धर्मों मे भी आ गया है।

परम विश्वासी जनता के लिए पवित्र वृक्ष जीवन, भाग्य तथा ज्ञान का प्रतीक होता है। लोककथाओं, कर्मकांडों से प्रचलित रूपों, प्राचीन प्रतीकों तथा समकालीन अन्य जातियों के धर्मों मे इस प्रकार के विचार खोजे जा सकते है। इस विश्वास का एक ज्वलन्त प्रमाण पुरानी बाइबिल में उस स्थल पर मिलता है जहाँ मूसा जलती हुई झाडी को जीवन-युक्त तथा ईश्वरीय वाणी बोलते हुए पाते है। इस विश्वास का आधार

यह विचार प्रतीत होता है कि वृक्ष, पशु और मनुष्य मे एक ही जीवन प्रवाहित हो रहा है।

वृक्ष पूजा का विधान अनादि काल से चला आ रहा है। तुलसी, बिल्व, पीपल वट, मौलश्री, अशोक, आँवला आदि कुछ वृक्षो की नित्य एव कुछ की विशेष अवसरो पर पूजा करने की परिपाटी प्रचलित है। इन सभी वृक्षो के भौतिक-शारीरिक लाभ बहुत हैं और आयुर्वेदशास्त्र मे उनका सविस्तार वणन है। किन्तु जिस वस्तु का आधार भावना है, उसकी व्याख्या करना सरल नहीं है। इस ससार मे जो कुछ दिखायी पडता है, वह सत्य है, उसको जिस रूप म हम देख रहे है वही है—यह कहना बुद्धि के लिए कठिन है। दूर्वा, कुश, पचपल्लव, पच समिधा, शमी, आक आदि का उपयोग पूजा मे पावन प्रतीक के रूप मे किया जाता है। अत प्रत्येक आध्यात्मिक प्रतीक से भौतिक अर्थ या लाभ ढूढने की वृत्ति अच्छी नही। फिर भी, जो व्यक्ति केवल भौतिक लाभ तक ही विचार कर सकते है, उनके लिए भौतिक लाभ का वणन भी ठीक ही है क्योकि जो भौतिक लाभ के लिए तुलसी, बिल्व, पीपल आदि की सेवा करेगा, वह उनसे *कुछ-न-कुछ लाभ पायेगा ही।* उपासना के धार्मिक प्रतीको का मुख्य प्रभाव मन से सबध रखता है। इसी दृष्टि से हमारे ऋषियो ने पदार्थो का तारतम्य निश्चित किया है। भावजगत के स्थूल जगत मे मूर्त होने तथा प्रत्येक क्रिया एव पदार्थ के अधिष्ठाता देवता एव उनकी दिव्य शक्तियो का उन पदार्थो मे सबधित होने के प्राचीन शास्त्रो मे स्पष्ट वणन हैं।

वृक्ष पूजा का विकास होने पर लोग यह प्रचार करने लगे कि वृक्षो को काटना या अन्य प्रकार से हानि पहुँचाना पाप है। महाभारत मे चैत्य वृक्षो के पत्तो के तोडने का निषेध किया गया है। श्री काणे का मत है

कि 'चत्य उन वृक्षों को कहा जाता था जिनके नीचे चबूतरा बना होता था, जैसे अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष। वृक्षों को काटने पर इस प्रकार का प्रतिबन्ध अन्य प्राचीन जातियों में प्रचलित था। आयरलैण्ड में पर्वतीय ऐश वृक्ष तथा बर्च वृक्ष को अभी कुछ समय तक पवित्र माना जाता था। आवश्यक होने पर उसे केवल सन्त हेलन के दिवस पर प्रच्छन्न रूप से काटा जाता था तथा आते समय मार्ग छोड कर दूसरे मार्ग से उसकी लकडी घर ले जायी जाती थी। भारत में पीपल काटने की भी यही पद्धति बनायी गई है, जिसे अत्यन्त आवश्यक होने पर अग्निहोत्री ब्राह्मण काट सकता है और उसकी लकडी को हवन के लिये ले जाता है। एक जातक में कहा गया है कि जो व्यक्ति वृक्ष को चोट पहुँचाता है उसे उसका अधिष्ठाता देवता दण्ड देता है।

इसी प्रकार का विवरण बाद में भगवती सूत्र में महावीर स्वामी के विषय में जोड दिया गया है। उसमें कहा गया है कि उन्होंने एक साल वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर बैठकर ध्यान किया। बाद में जब बुद्धों तथा तीर्थंकरों की संख्या बढी, तो प्रत्येक के साथ किसी विशेष वृक्ष का उल्लेख कर दिया या कोई और धार्मिक कृत्य। यह श्रेय भी हमारी सस्कृति को ही प्राप्त है कि मृत्यु के उपरान्त शरीर का दाह किया जाता है और इन सबके लिए लकडी वृक्षों से ही प्राप्त होती है। यही नहीं, कुछ विशिष्ट वृक्षों की लकडी और समिधाएँ भी निश्चित की गयी हैं, क्योंकि उन्हें पवित्र माना गया है। वट वृक्ष को ब्रह्म भगवान का रूप मानते हैं। इसे लगाना स्वर्ग-प्राप्ति का साधन माना गया है और भूतात्मा की तृप्ति के लिए एक वर्ष तक इसे जल देने का विधान है। इसकी लकडी को जलाना पाप है। यहाँ तक कि इसकी डाली भी लोग नहीं काटते। गीता में श्रीकृष्ण ने इसे अपना रूप कहा है। चदन की महत्ता किसी से छिपी नहीं। यहाँ तक कि वेदों में भी चदन को पवित्र ही नहीं माना

गया है बल्कि भगवान को तिलक लगाने के लिए इसी का प्रयोग किया जाता है। शरीर को ठडक पहुँचाने, माथे पर तिलक लगाने और द्रव्यो को सुगधित करने के लिए चदन को ही पवित्र माना गया है। इस तरह वृक्ष हमारी सस्कृति मे विशेष महत्व रखता है और यह हमारे सामाजिक जीवन का अभिन्न अग हो गया है।



रुद्राक्ष

जिस प्रकार वैष्णव भक्त तुलसी की माला धारण करते हैं उसी प्रकार शैव उपासक रुद्राक्ष की माला पहनते है। पौराणिक आख्यानो के अनुसार शिव तपस्या मे लीन थे, उमी समय उन्हें कुछ भय का आभास हुआ और उनकी आँखो मे आँसू की कुछ बूदें टपक पडी जो मथुरा, अयोध्या, काशी, मलय द्वीप, श्रीलका आदि मे गिरी जहा रुद्राक्ष वृक्ष उत्पन्न हुए। रुद्र के अक्षो से निकले अश्रु के कारण इन वृक्षो को रुद्राक्ष कहा गया। स्कद-पुराण, शिव-पुराण, लिंग-पुराण, अग्नि-पुराण आदि ग्रन्थो मे रुद्राक्ष की महिमा का वर्णन किया गया है। रुद्राक्ष के वृक्ष मुख्यत नेपाल, जावा, मलयेशिया तथा भारत के मैसूर व कोणकण स्थान पर मिलते हैं। रुद्राक्ष छोट आँवने के आकार का चमकदार, सख्त और कटीला होता है जिसमे अपने आप ही छिद्र भी होता है। जिस रुद्राक्ष को पत्थर पर घिसने से सुनहरी रेखाएँ अकित हो जायँ वह असली रुद्राक्ष माना जाता है। इसका पौधा मध्यम ऊँचाई का होता है जिसमे रुद्राक्ष फल के रूप मे निकलते है। छिद्र युक्त रुद्राक्ष श्रेष्ठ माने जाते है। इसमें जो धारियां होती है, उसी से इसका भेद किया जाता है। रुद्राक्ष अक्सर चार रगो मे पाये जाते हैं यथा—सफेद, लाल, पीले और काले।

अधिकतर लाल रंग के ही रुद्राक्ष देखने को मिलते हैं। असली रुद्राक्ष की पहचान यह है कि वह यदि जल या दूध में डाला जाय तो तैरने लगता है। यदि डूब जाय तो वह असली नहीं है।

रुद्राक्ष के कई प्रकार होते हैं जिनके अलग-अलग फल भी बताये गये हैं। सामान्यत ये एकमुखी से लेकर चौदहमुखी तक होते हैं। एकमुखी रुद्राक्ष अधिक शुभ माना जाता है और जिसके घर में रहता है वहाँ लक्ष्मी का वास होता है। इसे 'सर्वसिद्धि प्रदाता' माना गया है। द्विमुखी रुद्राक्ष एकाग्रता, मानसिक शान्ति, आध्यात्मिक उन्नति एवं गृहस्थाश्रम की सुख-शान्ति हेतु धारण किया जाता है। तीनमुखी रुद्राक्ष त्रिरुद्राक्ष-त्रिवेद नाम से सम्बोधित किया जाता है और इसे तीनों गुणों की प्राप्ति के लिए धारण किया जाता है। चारमुखी रुद्राक्ष अथवा चतुर्मुखी रुद्राक्ष ब्रह्म स्वरूप माना जाता है जो ऐश्वर्य का प्रदाता होने के साथ ही सृजनशीलता का द्योतक माना गया है। पंचमुखी रुद्राक्ष शत्रु-नाश के लिए तथा जहरीले जीवों से अपनी रक्षा के लिए पहना जाता है। यह मानसिक शान्ति और प्रफुल्लता का भी द्योतक है। षटमुखी रुद्राक्ष गणपति का प्रतीक सर्वसिद्धि व व्यापार में अद्भुत सफलता का प्रदाता है। इसके धारण करने वाला का दारिद्रय नाश, राजनीति पद-वृद्धि तथा विरोधियों पर विजय सम्भव है। सप्तमुखी रुद्राक्ष दीर्घायु प्राप्त करने वाला, अकाल-मृत्यु निवारक तथा देवी स्वरूप माना गया है। अष्टमुखी रुद्राक्ष सब प्रकार के विनाश का निवारक, दुर्घटना से छुटकारा देने वाला बताया गया है और ज्वालोपनिषद में इसे गणेश कहा गया है। अष्ट देवों का प्रतिनिधि भी इसे मानते हैं। नौमुखी रुद्राक्ष नौ शक्तियों का प्रतिनिधि माना जाता है और यह कठिनाई से मिलता है। यह प्रसिद्धि, सम्मान, यश प्राप्ति का भी द्योतक है। तांत्रिक साधना और नव ग्रह शान्ति के

लिए यह धारण किया जाता है। दसमुखी रुद्राक्ष विष्णु स्वरूप और सभी विघ्न-बाधाओं से यह व्यक्ति को सुरक्षित रखता है। एकादशमुखी रुद्राक्ष शान्ति और शक्ति प्रदान करने वाला तथा स्त्रियों के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। द्वादशमुखी रुद्राक्ष विष्णु स्वरूप दुर्लभ है और इसे धारण करने से दिव्य शक्तियाँ उपलब्ध होती हैं तथा तेजस्विता प्राप्त होती है। त्रयोदशमुखी रुद्राक्ष सदाशिव स्वरूप माना गया है और यह धन, यश, मान, प्रतिष्ठा प्रदान करने वाला है। चतुर्दशमुखी रुद्राक्ष स्वास्थ्य लाभ, रोग मुक्तिदायक और ज्ञान प्राप्त कराने वाला माना गया है।

इन चतुर्दशमुखी रुद्राक्षों के अलावा इक्कीसमुखी रुद्राक्ष तक पाये जाते हैं। लेकिन ये अत्यन्त कठिनाई से मिलते हैं और दुर्लभ भी हैं यद्यपि इनकी विशेष महत्ता मानी गयी है। इन रुद्राक्षों को धारण करने वालों को 'ॐ ह्रीं हुँ नम', 'ॐ नम' 'ॐ हुँ नम' मन्त्र का प्रतिदिन जाप करना आवश्यक है। इससे इच्छित फल की प्राप्ति होती है। यह ध्यान रखना चाहिए कि रुद्राक्ष धारण करने से पूर्व रुद्राक्ष के मन्त्र का उच्चारण अवश्य करना चाहिए। रुद्राक्ष की अलौकिक शक्तियों का पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए शुभ मुहूर्त, उचित मन्त्र का जाप तथा प्रभावी रुद्राक्ष के चयन का शास्त्रोक्त विधि-विधान निर्धारित है। आयुर्वेद में भी रुद्राक्ष की महत्ता अत्यधिक बतायी गयी है। इसे उच्च और निम्न रक्तचाप तथा कफ निवारक, वायु विनाशक, सिरदर्द से मुक्त करने वाला तथा प्रेत व ग्रह बाधा दूर करने वाला बताया गया है।

शिव लोक कल्याणकारी देवता माने गये हैं और रुद्राक्ष भी एक कल्याणकारी फल है। अतः इसे धारण करने वाले में इस बात की अपेक्षा

की जाती है कि वह हर क्षण अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक रहेगा तथा भगवान शिव के समान ही दूसरों के दुःख को ग्रहण कर उनके जीवन को सुखमय और शान्तिपूर्ण बनाने का यथासम्भव प्रयत्न करेगा। रुद्राक्ष अथवा रुद्राक्ष माला धारण करने का यही शाश्वत संदेश और आदर्श भी है।

